णिग्गंथ-थुदी

(निर्ग्रंथ-स्तुति)

ग्रंथकार

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी

आचार्य श्री १०८ वसुनंदी जी मुनिराज

स्वर्ण जन्म जयंती महोत्सव
2017

प्रकाशक

गजेन्द्र ग्रन्थमाला

सहयोगी प्रकाशक

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

प. पू. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज की स्वर्ण जन्म जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित

ग्रंथ : णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रंथ स्तुति)

मंगलाशीष : श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

ग्रंथकार : आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

पद्यानुवाद : आर्यिका श्री 105 वर्चस्वनंदनी

भावार्थ एवं

संपादन : आर्यिका श्री 105 वर्धस्वनंदनी

पुण्यार्जक : **Mridul Incorporation Glass Musaic Tiles**
Swimming Equipments
I-110, UPSIDC Site-C, Grater Noida

प्राप्ति स्थान: निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला, बौलखेड़ा
गजेन्द्र ग्रन्थमाला, H2/16, II फ्लोर, अंसारी रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002 मो. 9810035356

संस्करण : प्रथम सन् 2017

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 100.00 रुपये

मुद्रक : एन.एस. एन्टरप्राईजिज
2578, गली पीपल वाली,
धर्मपुरा, दिल्ली-110006
दूरभाष : मोबाईल : **9811725356, 9810035356**
e-mail : swaneeraj@rediffmail.com

''णाणं पयासओ''

सूर्योदय होने से केवल तमोपुंज का ही अंत नहीं होता अपितु दिव्य प्रकाश का भी उदय होता है। प्रकाश जीवंतता का प्रतीक है, दिवाकर का प्रकाश दिव्यता का द्योतक भी है, उसके माध्यम से प्राणी दिव्यता को प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रकाश को केवल ज्ञान का ही प्रतीक नहीं माना अपितु सुख का कारण भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय ग्रन्थों में दीपक को स्वपर प्रकाशी निरूपित करते हुये ज्ञान की महिमा को प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार प्रकाश के बिना अंधकार में जीया गया जीवन अनेक दु:ख क्लेश, अशांति, वैमनस्यता, ईर्ष्या, विद्वेष, चिन्ता आदि विकारों को जन्म देने वाला होता है एवं दुष्कृत्यों का निमित्त कारण बन जाता है, उसी प्रकार चेतना में विद्यमान अंधकार मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और दु:ख रूप प्रवृत्ति कराने वाला होता है।

बहिर्जगत में विद्यमान तमसावृत्त निशा का निराकरण करने के लिये आदित्य समर्थ होता है। अनेक चंद्रादि ज्योतिर्ग्रह निशा में उदित होकर अपने अस्तित्व का बोध कराते हुये शीतल प्रकाश भी प्रदान करते हैं। चेतना के प्रदेशों पर विद्यमान मिथ्यात्वादि के अंधकार को दूर करने में सूर्यादि अनेक ग्रह भी समर्थ नहीं होते, आत्मप्रदेशों में विद्यमान अंधकार को सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के तीन रत्न ही तिरोहित करने में समर्थ होते हैं। इन तीन रत्नों की प्राप्ति सर्वज्ञ, वीतरागी, प्राणी मात्र के लिए हितोपदेशी जिनेन्द्र देव के माध्यम से ही संभव है किन्तु वर्तमान में दुखमा नाम का पंचमकाल उदयावस्था को प्राप्त है अत: भरत, ऐरावत क्षेत्र में केवली भगवान का यहाँ सद्भाव संभव नहीं है, उनके अभाव में जिनवाणी भव्य प्राणियों के मिथ्यात्वादि अंधकार को दूर करने में समर्थ है।

आ. पद्मनन्दी स्वामी जी ने पद्मनंदीपंचविंशतिका में लिखा है-

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रे जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली प्रभु इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली प्रभु की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं इसीलिए उन मुनि का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली का पूजन है।

जिनवाणी का संवर्धन, संरक्षण एवं संस्थिति वर्तमान में निर्ग्रंथ साधु आदि चतुर्विध संघ से है। निर्ग्रंथ संत आदि आत्मसाधक जिनवाणी की दिव्य देशना के माध्यम से स्वपर का कल्याण करने में संलग्न हैं। जिनवाणी का प्रचार-प्रसार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम को ही वृद्धिंगत नहीं करता है अपितु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम को वृद्धिंगत करने में भी कारण है तथा अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, असाता वेदनीय एवं अंतराय कर्म के बंधन से बचाने वाला है, आत्मकल्याण के मार्ग में आने वाले विघ्नों को विलुप्त करने वाला है। जिनवाणी के सम्यक् प्रचार-प्रसार से असातावेदनीय को सातावेदनीय में, अशुभ नामकर्म को शुभ नामकर्म में, नीचगोत्र को उच्चगोत्र में संक्रमित भी किया जा सकता है। जिनवाणी के अध्ययन-अध्यापन से शुभास्रव, सातिशय पुण्य का बंध, अशुभ का संवर एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

वर्ष 2016-2017 हम परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के स्वर्ण जयन्ती वर्ष के रूप में अनेक

धार्मिक अनुष्ठानों के साथ आयोजित कर रहे हैं। इसी श्रृंखला में आचार्य प्रणीत वर्तमान में अनुपलब्ध बहुपयोगी 50 शास्त्रों का प्रकाशन करने का संकल्प निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति आदि संस्थाओं ने लिया है। उसी क्रम में प्रस्तुत ग्रंथ णिग्गंथ-थुदी आपके श्री करकमलों में स्वपर हित की मंगल भावना से समर्पित है।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि आप प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से स्व-पर कल्याण की भावना को वृद्धिगंत करते हुए जिनशासन की प्रभावना में भी निमित्त बनेंगे। सुधी पाठकों से सविनय अनुरोध है वे प्रस्तुत ग्रंथ से स्वकीय पात्रता के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाली सतत प्रवाही श्रुत गंगा से श्रुतामृत को ग्रहण कर उसका सदुपयोग ही करें। हंसवत् क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें, दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों। प्रमादवश, अज्ञानतावश हुयी त्रुटियों को या चूक को भूल या चूक समझकर ही विसर्जित कर दें। आप जैसे सुधी पाठक इस ग्रंथ रूपी दधिका में उतरकर नवनीत को ही ग्रहण करें क्योंकि कोई भी ग्वाल या गोपी छाछ ग्रहण करने के उद्देश्य से दधि मंथन नहीं करती। अतः आप भी तदैव प्रवृत्ति करें।

मैं अंतस् की समग्र निष्ठा, भक्ति, समर्पण के साथ सर्वज्ञ देव, श्रुत सिंधु एवं निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों में अनंतशः प्रणाम निवेदित करता हूँ तथा परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के पद कमलों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन करता हुआ उनके स्वस्थ संयमी जीवन की एवं आत्म ध्यान के संवर्द्धन की भावना करता हूँ।

जिन श्रुताम्बुज चंचरीक
-मुनि प्रज्ञानंद

पुरोवाक्

सांसारिक प्राणियों के भव-भवांतर की जन्म-मृत्यु-यात्राओं में विष में मारकत्व गुण के समान दु:ख और पुष्प में सुरभि के समान सुख अनुविद्ध होकर लगे हुए हैं। इन्हीं विषम विषसदृश लोकवृत्तियों को देखते हुए भव्यात्मा की चिंतन की गहराई से वैराग्य रूपी मोती प्राप्त होते हैं। पुन: तत्त्वों का चिंतन करते हुए भवागमन-निर्गमन श्रृंखला का मूलोच्छेद करने वाले कर्मक्षयार्थ मुनिव्रत या महाव्रत धारण करते हैं। मुनि का विशेषण है-निर्ग्रन्थ। ग्रन्थ शब्द संचयार्थक वा परिग्रहवाचक है। यह परिग्रह दु:खों का मूल है क्योंकि उसके संवर्द्धन, रक्षण और नियोजन की दुश्चिन्ता से जीव सुखी नहीं रह पाता। अत: निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनि कर्मरज्जुओं को बल देने वाली मूर्च्छा, जिसे परिग्रह कहकर पुकारते हैं और ग्रन्थि या गाँठ भी कहते हैं उसका अंतरंग व बहिरंग पूर्णरूपेण त्याग कर देते हैं। सर्वथा नग्न दिगम्बर होकर अपनी परिग्रह शून्यता का परिचय देते हैं। मुनि न आंतरिक विषय-कषायादि रखते हैं और ना ही बाह्य वस्त्रादिक। जो अंदर व बाह्य दोनों ओर से नग्न है वही निर्ग्रन्थ है।

कोई कहे कि आंतरिक परिग्रह मात्र का त्याग क्या पर्याप्त नहीं है? तब ''मूलाराधना'' में कहा है कि ''बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तर-परिग्रहत्यागमूल:'' बाहरी वस्त्रादि परिग्रह मात्र का त्याग आंतरिक त्याग का मूल है। जब तक चावलों पर छिलका आवृत्त है तब तक वह ओदनोपयोगी नहीं हो सकता। उसे उपयोगी बनाने के लिए उसे निस्तुष करना होगा। छिलका उसके आभ्यंतर परिपाक का प्रतिबंधक है और वस्त्रादि का धारण करना मुनित्व के सर्वथा नि:संग का प्रतिपक्षी है। मूलाराधना टीका में उल्लिखित है कि-

''संगत्याग: कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोक्षाणं जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मन:॥

संग का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण तथा मन एवं इंन्द्रियों पर विजय ये ध्यानजन्मा मुनि की सामग्री है। योगसार में निर्वचन है–

यदा मनो निर्ग्रन्थो जीव ! तदा त्वं निर्ग्रन्थः।
यदा त्वं निर्ग्रन्थो जीव ! ततो लभ्यते शिवपन्थाः॥

हे जीव ! जब मन निर्ग्रन्थ हो जाता है तब ही तुम भी वास्तविक निर्ग्रन्थ होते हो और जैसे ही तुमने निर्ग्रन्थत्व प्राप्त किया वैसे ही शिवमार्ग प्राप्त हो जाएगा।

दिगंबर निर्ग्रन्थ गुरुओं की चर्या सुलभ नहीं है।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य॥२०॥ सू.पा.

जो पाँच महाव्रत और तीन गुप्तियों से सहित है वही संयत–संयमी मुनि होता है और जो निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग को मानता है, वही वंदनीय है। पाँच महाव्रत–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण व प्रतिष्ठापना–ये पाँच समितियाँ हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन पंचेंद्रियों का निरोध करना पंचेन्द्रिय निरोध है। सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये षडावश्यक हैं। केशलुंचन, अचेलक्य, अस्नान, भूशयन, अदंतधावन, स्थिति भोजन तथा एक बार आहार ये प्रकीर्ण गुण मिलाकर अष्टविंशति मूलगुण होते हैं जिनका पालन निर्ग्रन्थ मुनि करते हैं। शरीर को भी परिग्रह समझने वाले ये दिगंबर मुनि रागद्वेष परिहारार्थ कायक्लेशादि तप करते हैं।

वे निर्ग्रन्थ मुनि धन्य हैं जो आकिंचन्य की पराकाष्ठा और अहिंसा की आधारशिला हैं। जो कठिन व्रतों का पालन कर मुक्ति के लिए प्रयासरत हैं। साधना के शिखर पुरुष, त्यागतपादर्श, सर्वसावद्यविरहित, समतामूर्ति, धरती के देवता, विश्ववंद्य आदि विशेषण

उनके स्वरूप के वास्तविक अलंकरण हैं। यह अपरिग्रही दिगंबर वेष विश्व में मात्र श्रमणों का है और मोक्ष गमन के विषय में उनको इससे निषेध नहीं किया जा सकता। जैसे दूध से घृत प्राप्ति हेतु मंथन आवश्यक है वैसे ही आत्मा को प्राप्त करने हेतु संयम, तप, त्याग आवश्यक है। श्री प्रवचनसार में कहा है-

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीति भणदि सुत्तं असंजदो होदि किधं समणो॥३६॥

शास्त्रदर्शित मार्ग से चलते हुए जो संयम का पालन करते हैं वे ही सच्चे श्रमण हैं। असंयमी कभी श्रमण नहीं हो सकता।

अत: असंयम के परिहार व मोहध्वांत निशा को निरास्त करने हेतु महाव्रतों को अंगीकार करना, मुनि होना आवश्यक है। मुनियों की ऐसी कठोर साधना, तपादि को देख भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में कहा है-

पाणिपात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं।
विस्तीर्ण वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां नि:संगतांगीकरणपरिणति: स्वात्मसन्तोषिणस्ते,
धन्या: संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकरा: कर्मनिर्मूलयन्ति॥५७॥

वे धन्य हैं जिन्होंने हाथों को पात्र बना लिया है, चरणों को वाहन, भिक्षावृत्ति को अन्नपूर्ति, दिशाओं को वस्त्र, पृथ्वी को शैय्या मान लिया है। जो अपने आत्मा में ही निमग्न है और संपूर्ण दैन्यजनकपरिणतियों से सन्यास लेकर कर्मों का निर्मूलन करते हैं।

ये निर्ग्रन्थ मुनि वर्तमान काल में साक्षात् जिन स्वरूप ही हैं। इन महाव्रतों का पालन कर जीव महनीय चरित कोटि में आ जाता है। उनकी चर्या को देखकर कोटि मस्तक उनके पद-कमलों में नतमस्तक हो जाते हैं। क्योंकि इस कलिकाल में भारतभूमि पर ऐसे महान् संतों का विचरण महाभाग्य की बात है।

आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी कहते हैं कि आश्चर्य यह है कि आज भी निर्ग्रन्थ मुनिचर्या के पालन करने वाले विद्यमान हैं। कहा है-

कले कालौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥२८॥

प्रस्तुत ग्रंथ ''णिग्गंथ-थुदी'' परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा रचित निर्ग्रन्थ गुरुओं का स्तुति परक ग्रन्थ है। इसमें उनके मूलगुण-उत्तरगुण का वर्णन करते हुए सूर्य, पृथ्वी, माता आदि की उपमा देकर भक्ति के अपने प्रांजुल भावों को शब्दों में निबद्ध किया है। यदि इस ग्रंथ के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें। इस ग्रंथ के संपादन में सहयोगी संघस्थ त्यागी व्रती एवं मुद्रण व प्रकाशन करने में सहयोगी सभी धर्मस्नेही जनों को पूज्य गुरुदेव का मंगलमय शुभाशीष। गुरुवर श्री की साधना सदा ही वर्द्धमान अवस्था को प्राप्त हो। शताधिक वर्षों तक स्व-संयम व ज्ञान की सुगंधि से जन-जन को सुगंधित करते रहें तथा अपने लक्ष्य मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करें। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अक्षर शिल्पी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित त्रिकाल नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु !

-ॐ ह्रीं नमः

आर्यिका वर्धस्व नंदनी

णिग्गंथ-थुदी

भारतीय संस्कृति दो पहलुओं में सम्पन्न होती है- वैदिक संस्कृति तथा श्रमण संस्कृति। इन दोनों संस्कृतियों में नग्नता को पूज्य तथा मोक्षमार्ग का समीचीन वेष स्वीकार किया है। वैदिक संस्कृति में परमहंस नागा साधु को साधुओं में श्रेष्ठ कहा है तो श्रमण संस्कृति नग्न साधु को ही साधु स्वीकार करती है। श्रमण संस्कृति में नग्नत्व के बिना साधुत्व बनता ही नहीं है। इसकारण साधु के अट्ठाईस मूलगुणों में नग्नत्व को भी मूलगुण माना है तथा मुनिदीक्षा के समय नग्नता सर्वप्रथम ग्रहण करने योग्य है।

श्रमण संस्कृति में नग्न हुये बिना मोक्ष की प्राप्ति असंभव है तथा नग्न हो जाने मात्र से भी मोक्ष की प्राप्ति हो ही जाये यह भी कहा नहीं जा सकता। इसकारण आचार्यों ने नग्न साधु के साथ निर्ग्रन्थ शब्द को सम्मिलित किया, जिससे मोक्षमार्ग समीचीन रूप से प्रशस्त हो सके। संस्कृत कोशकारों ने ग्रन्थ का शाब्दिक अर्थ झुंड, गुच्छा, टेढ़ा होना, दुष्ट होना, रचना करना, पुस्तक, सम्पत्ति आदि किया है। इसीप्रकार प्राकृत कोशकारों ने ग्रन्थ का अर्थ शास्त्र धन-धान्य आदि बाह्य तथा क्रोधादि अन्तरंग परिग्रह ग्रहण किया है।

संस्कृत कोशकारों अथवा वैदिक परम्परा में निर्ग्रन्थ शब्द का वास्तविक अर्थ न देकर केवल ग्रन्थ से रहित को निर्ग्रन्थ कहा है। जिससे ग्रन्थ के सभी अर्थों में लगाने से अनर्थ हो सकता है। इसकारण श्रमण परम्परा में साधुता के संबंध में निर्ग्रन्थ को गूढ़ शब्द मानकर परिग्रह से रहित अर्थ में द्योतित किया है। श्रमण परम्परा में दो स्थानों में ग्रन्थ का प्रयोग किया है। शास्त्र के संबंध में ग्रन्थ का प्रयोग तथा द्वितीय स्थान में परिग्रह के अर्थ में ग्रन्थ का प्रयोग मिलता है। इनमें से श्रमण परम्परा में अधिकांश स्थानों में साधु के साथ ग्रन्थ शब्द परिग्रह से संबंधित है, जिसके त्याग करने से साधु को निर्ग्रन्थ संज्ञा प्रदान होती है।

श्रमण परम्परा में चारित्र का कथन करने वाले मूलाचारादि ग्रन्थों में निर्ग्रन्थ के गुणों का कथन किया है परन्तु विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इसकारण वर्तमान में कुछ साधु तथा श्रावक विशेष अध्ययन के अभाव में निर्ग्रन्थ शब्द से केवल नग्न मुनि अवस्था का ग्रहण करते हैं जिससे निर्ग्रन्थता केवल नग्नता रूप में ही मोक्षमार्ग का द्योतक हो

जाता है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ (परिग्रह) से सहित नग्न साधु भी पूज्यता की कोटि में परिगणित हो जाते हैं। इन सभी समस्याओं तथा विभिन्न विपरीत मत के निराकरण के लिये आचार्य वसुनन्दी मुनिराज ने णिग्गंथ थुदी नामक कृति में निर्ग्रन्थ की स्तुति की है। जिससे निर्ग्रन्थ के अन्तर्गत वर्तमान में लग रहे दोषों का निराकरण भी हो जाता है। पूज्य आचार्य वसुनन्दी मुनिराज जी द्वारा निर्ग्रन्थ का जीवन जीते हुये इस कृति की रचना प्राकृत भाषा में की गई। जिसमें 111 गाथाओं के माध्यम से निर्ग्रन्थता के गुणों का गुणगान किया गया है।

वर्तमान काल में प्राकृत भाषा को पढ़ने व सुनने वाले लोगों की न्यूनता अनुभव की जा रही है। ऐसी अवस्था में प्राकृत भाषा में कृतियों की रचना करना जनमानस के लिये अकल्पनीय है ऐसे में भी आचार्य वसुनन्दी मुनिराज ने इस कृति के माध्यम से प्राकृत भाषा को जीवन्त करने का प्रयास करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा का स्मरण कराया, साथ ही आगम व समाज के उन विषयों में अपनी लेखनी का वर्तन किया और सरल भाषा में प्रस्तुत किया जो समाज और विद्वत्वर्ग के लिये अकल्पनीय था। ऐसे आचार्य महाराज के चरणों में विनम्र प्रणति निवेदित करता हुआ आशीष चाहता हूँ कि आचार्य श्री इसीप्रकार प्राकृत भाषा के उत्थान तथा समाज व विद्वानों के उत्थान में महती भूमिका का निर्वहन करते रहें और हम विद्वानों को आशीष प्रदान करते रहे।

साथ ही साधुवर्ग को विनम्र नमोऽस्तु करता हुआ अनुरोध करता हूँ कि आचार्य वसुनन्दी महाराज जी के समान आगम के परिप्रेक्ष्य में तथा समाज के उत्थान में प्राकृत भाषा को आधार बनाकर रचनाएँ करें तथा प्राकृत भाषा के ऐसे ग्रन्थ जो प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित हैं उनका सम्पादन कर समाज को मार्गदिशा प्रदान करें।

डॉ0 सतेन्द्रकुमार जैन
पालि-प्राकृत योजना
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जनकपुरी, नई दिल्ली-

संकेत-सूची

ग्रंथ संकेत	ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
अन. ध.	अनगार धर्मामृत	पं. आशाधर जी
आ. अनु.	आत्मानुशासन	आ. श्री गुणभद्र स्वामी
क. पा.	काषाय पाहुड	आ. श्री गुणधर जी
का. अ.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	आ. श्री कार्तिकेय
गो. जी./जी. प्र.	गोम्मटसार जीवकाण्ड/ जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका	आ. श्री नेमिचन्द्र जी
चा. पा.	चारित्र पाहुड	आ. श्री कुंदकुंद स्वामी
चा. सा.	चारित्र सार	आ. श्री चामुण्डराय
त. सा.	तत्त्वार्थ सार	आ. श्री अमितगति स्वामी
त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र	आ. श्री उमास्वामी
ति. प.	तिलोए पण्णत्ति	आ. श्री यतिवृषभ स्वामी
द्र. सं.	द्रव्य संग्रह	आ. श्री नेमिचंद जी
द्र. सं. टी.	द्रव्य संग्रह टीका	आ. श्री ब्रह्मदेव सूरी
ध.	धवला जी	आ. श्री वीरसेन स्वामी
न. च. बृ.	नयचक्र बृहद	आ. श्री देवसेन जी
नि. सा.	नियमसार	आ. श्री कुंदकुंद स्वामी
नि. सा. / ता. वृ.	नियमसार / तात्पर्य वृत्ति	आ. श्री पद्मप्रभ मलधारी देव
पं. का. / ता. वृ.	पंचास्तिकाय / तात्पर्य वृत्ति	आ. श्री जयसेन स्वामी
पं. ध. उ.	पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध	राजमल्ल पवैया
पं. वि.	पद्मनंदी पंचविंशतिका	आ. श्री पद्मनंदी जी
पं. सं. / प्रा.	पंचसंग्रह / प्राकृत	आ. श्री अमितगति जी
प. पं.	पद्मनन्दी पंचविशतिका	आ. श्री पद्मनंदी जी
प. मु.	परीक्षा मुख	आ. श्री माणिक्य नंदी
प्र. सा. / ता. वृ.	प्रवचनसार / तात्पर्यवृत्ति	आ. श्री जयसेन जी
बा. अनु.	बारसाणुवेक्खा	आ. श्री कुंदकुंद स्वामी
बो. पा.	बोध पाहुड	आ. श्री कुंदकुंद स्वामी
भ. आ.	भगवती आराधना	आ. श्री शिवकोटी
भ. आ. / वि.	भगवती आराधना / विजयोदय टीका	आ. श्री अपराजित सूरी
भा. पा. / टी.	भावपाहुड / टीका	आ. श्री श्रुतसागर
मू. आ.	मूलाचार	आ. श्री वट्टकेर स्वामी
मूला. / आ. वृ.	मूलाचार / आचार वृत्ति	सिद्धांत च. आ. श्री वुसनंदीजी
मो. पा.	मोक्ष पाहुड	आ. श्री कुंदकुंद स्वामी
य. चं.	यशस्तिलक चंपू	आ. श्री सोमदेव सूरी
र. श्रा.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आ. श्री समंतभद्र स्वामी
रा. वा.	राजवार्तिक	आ. श्री अकलंक देव
वसु. श्रा.	वसुनंदी श्रावकाचार	सि. च. आ. श्री वसुनंदी जी
स. सा. / आ.	समयसार / आत्मख्याति	आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी
स. सा. / ता. वृ.	समयसार / तात्पर्यवृत्ति	आ. श्री जयसेन स्वामी
स. सि.	सर्वार्थसिद्धि	आ. श्री पूज्यपाद स्वामी

1

सव्व-णिग्गंथसाहू, जहाजादा समदाइसंजुत्ता।
वंदामि ति-जोगेहिं, जे सिवसुक्ख-साहणं होंति॥१॥

अन्वयार्थः– मैं (वसुनंदी मुनि) **समदाइसंजुत्ता**–समतादि (गुणों) से संयुक्त **सव्व**–सभी **जहाजादा**–यथाजात **णिग्गंथ-साहू**–निर्ग्रंथ साधुओं की **ति-जोगेहिं**–तीनों योगों से **वंदामि**–वंदना करता हूँ **जे**–जो **सिव-सुक्ख-साहणं**–शिव सुख के साधन **होंति**–होते हैं।

समतादि गुण से पूरित जो यथाजात मुनि ध्यानी हैं,
वंदन करता उन मुनिवर को जो निर्ग्रन्थ प्रमाणी हैं।
दशों दिशा को वस्त्र बना जो बने दिगम्बर पावन हैं,
नमस्कार उनके चरणों में शिव सुख के जो साधन हैं॥

भावार्थः–किसी भी ग्रंथ को प्रारंभ करने से पूर्व मंगलाचरण करने की परंपरा अनादिकालीन है। ''णिग्गंथ-थुदी'' जैसा कि ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है इसमें निर्ग्रंथ गुरुओं की स्तुति की गई है। क्योंकि यह स्तुति ग्रंथ है अतः इसकी प्रत्येक गाथा मंगलाचरण रूप ही है। यहाँ ग्रंथकार ने समता आदि गुणों से युक्त समस्त यथाजात निर्ग्रंथ साधुओं को नमस्कार किया है।

जो ग्रंथ से रहित हैं वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं। जो संसार को गूंथते हैं अर्थात् जो संसार की रचना करते हैं, जो संसार को दीर्घ करते हैं उन्हें ग्रंथ कहना चाहिए। जैसे–मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय, अशुभ मन–वचन–काय योग इन परिणामों को आचार्य ग्रंथ कहते हैं।[1] इनके त्यागी निर्ग्रंथ हैं।

---

1. ग्रन्थयन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः। मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं असंयमः कषायाः अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः। –भ.आ./वि.

व्यवहारनय की अपेक्षा क्षेत्रादिक (बाह्य) ग्रन्थ हैं क्योंकि वे अभ्यंतर ग्रंथ (मिथ्यात्वादि) के कारण हैं, इनका त्याग निर्ग्रंथता है अथवा निश्चय नय की अपेक्षा मिथ्यात्वादि (अभ्यन्तर) ग्रन्थ हैं क्योंकि वे कर्म बंध के कारण हैं, इनका त्याग निर्ग्रंथता है।[1] इस प्रकार अंतर व बाह्य दोनों प्रकार के ग्रंथ (गांठ) से रहित निर्ग्रंथ हैं।

यथाजात का अर्थ है-जिस अविकारी रूप में बालक जन्म लेता है वही रूप। व्यवहार नय से नग्नत्व को यथाजात रूप कहते हैं और निश्चय नय से स्वात्म रूप को। इस प्रकार के व्यवहार व निश्चय यथाजात रूप को धारण करने वाला यथाजात-रूप-धर कहलाता है और वे ही निर्ग्रंथ कहलाते हैं।[2] यथाजात रूप को धारण करने वाले ही निर्ग्रंथ हैं।[3]

इस प्रकार समता आदि गुणों से युक्त इन यथाजात निर्ग्रंथ साधुओं की ग्रंथकार तीनों योग अर्थात् मन, वचन व काय से वंदना करते हैं। ये निर्ग्रंथ साधु शिव सुख के साधन होते हैं। मुनिराज की सौम्य मुद्रा उनके अमृतमयी उपदेश संसारोदधि में डूब रहे जीवों को मोक्ष रूपी तट तक पहुँचाने में नाव के समान कारण हैं। अतः इन्हें शिवसुख के साधन भी कहा गया है।

---

1. ववहारणयं पडुच्च खेत्तादि गंथो, अब्भंतरंग कारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथं। -ध. 1
2. व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः। -प्र.सा./ता.वृ.
3. यथाजातरूपधरो निर्ग्रंथः निष्परिग्रहः। - जावालोप. पृ-130
   यथाजातरूपधरो निर्ग्रंथः निष्परिग्रहः। - तैत्तरीय अरण्यक. 10/83

2

सिहोव्व परक्कमी जे, साहसी सव्वदा सुत्थिरचित्ता।
णिब्भियऽदीणवित्तीइ, धारगा वंदे णिग्गंथा॥२॥

अन्वयार्थः– **जे**–जो **सव्वदा**–सर्वदा **सिहोव्व**–सिंह के समान **परक्कमी**–पराक्रमी **साहसी**–साहसी **सुत्थिरचित्ता**–सम्यक् रूप से स्थिर चित्त वाले **णिब्भिय**–निर्भीक **अदीणवित्तीइ**– अदीनवृत्ति के **धारगा**–धारक हैं **णिग्गंथा**–उन निर्ग्रंथों की **वंदे**–वंदना करता हूँ।

सिंह समान पराक्रमधारी दृढ़ साहस की प्रतिमा युत,
मेरु सम थिर चित है जिनका कभी डोलता न इत उत।
हैं निर्भीक न भय किंचित् भी अयाचीक वृत्ति धरते,
ऐसे उन निर्ग्रन्थ गुरु को सदा-सदा वंदन करते॥

भावार्थः–यहाँ ग्रन्थकार निर्ग्रंथ साधुओं को सिंह के समान पराक्रमी बताते हैं। मुनियों की चर्या सिंहचर्या के समान कही जाती है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने धवला जी में मुनियों को सिंह के समान पराक्रमी कहा। जैसे सिंह पूर्ण पराक्रम के साथ शत्रु पर आक्रमण करता है, लड़ता है उसी प्रकार मुनि पूर्ण पराक्रम के साथ कर्म रूपी शत्रुओं से लड़ उन्हें जीतने का पुरुषार्थ करते हैं। कहा जाता है कि सकल संयम का पालन करना अग्नि के दरिये को पार करने के समान है, तलवार की धार पर चलने की तरह है। इस प्रकार के संयम का पालन करने वाले मुनिराज अत्यंत साहसी हैं। निर्ग्रंथ साधु सम्यक् रूप से स्थिर चित्त वाले होते हैं। निर्भीक हो नगर, वनादि में विचरण करते हैं, एकांत स्थान में ध्यानादि लगाते हैं। वे मुनिराज अदीनवृत्ति के धारक हैं अर्थात् किसी के समक्ष दीनता का भाव नहीं

रखते वे दीन वृत्ति से रहित होकर ही प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं।[1] अयाचक वृत्ति के धारक हैं। इन गुणों से सहित निर्ग्रंथों की सदैव वंदना करते हैं।

1. भिक्षाशुद्धि.....दीनवृत्तिविगमा प्रासुकहारगवेषणप्रणिधाना –रा.वा./9

3

जो मिगोव्व वणयारी, णिरीहो णिस्संको सहज-सरलो।
अप्प-भोयणे तुट्ठो, वंदे तं मुणिवरं णिच्चं॥३॥

अन्वयार्थः– **जो**-जो **मिगोव्व**-हरिण के समान **वणयारी**-वनचारी हैं **णिरीहो**-निरीह **णिस्संको**-नि:शंक **सहज-सरलो य**-सहज और सरल हैं **अप्प-भोयणे**-अल्प भोजन में **तुट्ठो**-संतुष्ट रहने वाले हैं **तं**-उन **मुणिवरं**-मुनिवर को **णिच्चं**-नित्य **वंदे**-वंदना करता हूँ।

हरिण समान निरीह होय जो नित वन में विचरण करते,
शंका रहित, सरल योगों से, सहज भाव चित में धरते।
चाह नहीं रसमय भोजन की अल्पाहार कर तुष्ठ रहें,
ऐसे मुनिवर के चरणों में नित मम मस्तक झुका रहे॥

भावार्थः-स्तुतिकर्त्ता विभिन्न उपमाएँ देकर गुणानुवाद करते हुए यहाँ दिगम्बर साधुओं की वंदना करते हैं। वे निर्ग्रंथ साधु मृग के समान वन में विचरण करने वाले होते हैं। निरीह अर्थात् ईहा से रहित। सभी प्रकार की इच्छा या ईहा से मुक्त होते हैं। जिनकी तत्त्वों आदि में कोई शंका नहीं ऐसे नि:शंक होते हैं अथवा कहा भी है निश्चय नय से उस व्यवहार नि:शंक गुण (अर्थात् अरिहंत के वचन पर दृढ़ श्रद्धान कि यह ऐसा ही है) की सहायता से इस लोक का भय आदि सप्त भयों को छोड़कर घोर उपसर्ग तथा परिषहों के आने पर भी शुद्ध उपयोग रूप जो निश्चय रत्नत्रय है उसकी भावना को नि:शंक गुण जानना चाहिए। इससे युक्त मुनि होते हैं।[1] एवं जो सरल व सहज, अल्प भोजन में संतुष्ट रहने वाले होते हैं। ऐसे निर्ग्रंथ गुरुओं की, मुनिवर की वंदना करता हूँ।

---

1. द्र.सं.टी.

4

सेलोव्व महाधीरो, णिक्कंपो णिम्मलो य गंभीरो।
ण अत्थिरो उवसग्गे, जगपुज्जं मुणिवरं वंदे॥४॥

अन्वयार्थ:– मैं **जगपुज्जं**–जगपूज्य **मुणिवरं**–उन मुनिवर की **वंदे**–वंदना करता हूँ, जो **सेलोव्व महाधीरो**–शैल के समान महाधीर **णिक्कंपो**–निष्कंप **णिम्मलो**–निर्मल **य**–और **गंभीरो**–गंभीर हैं तथा **उवसग्गे**–उपसर्ग आने पर भी **अत्थिरो**–अस्थिर **ण**–नहीं होते हैं।

जो निश्चय ही निष्प्रकम्प हैं अटल चित्त चट्टान समान,
धैर्य रूपी साथी को हरपल देते हैं निज में स्थान।
घोर विपत्ति आने पर भी जो न तनिक भी डिग पाते,
जगत् पूज्य ऐसे गुरुओं का वंदन कर हम सुख पाते॥

भावार्थ:–ध्येयों के प्रति जिनकी बुद्धि गमन करती है या प्रेरणा करती है उन्हें धीर कहते हैं।[1] समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं इसीलिए धीर और गुणगंभीर होते हैं।[2] पर्वत के समान जो महाधीर व निष्कंप हैं। उपसर्ग आदि आने पर भी पर्वत के समान निष्कंप रहते हैं विषय वासनादि से रहित होने से निर्मल हैं। एवं उपसर्ग आने पर भी अपने व्रत संयमादि से चलायमान नहीं होते अत: स्थिर हैं। इस प्रकार जो मुनि जगत में पूज्यनीय हैं उनकी वंदना करता हूँ।

---

1. ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युपदिश्यते। –भा.पा./टी.
2. निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगंभीरा:। – नि.सा./ता.वृ.

5

तेजस्सी अक्कोव्व हु, णिम्मलणाणपयाससंजुदो जो।
सवरहिदेसी साहू, सुजीव-कल्लाणकंखी सो॥५॥

अन्वयार्थः– **जो**-जो **हु**-निश्चय ही **अक्कोव्व**-सूर्य के समान **तेजस्सी**-तेजस्वी **णिम्मलणाणपयाससंजुदो**-निर्मल ज्ञान या सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से युक्त **सवरहिदेसी**-स्व-पर के हितैषी हैं। **सुजीव-कल्लाणकंखी**-भव्य जीवों के कल्याणाकांक्षी हैं **सो**-वह **साहू**-साधु कहलाता है।

तेज कांति युत होकर जग में रवि समान जो कहलाते,
सम्यक्ज्ञान प्रकाश युक्त हो राह भव्य को दिखलाते।
प्राणीमात्र कल्याण करे यही इच्छा मन में रखते हैं,
निज-पर का हित करने वाले निश्चय से वे साधु हैं॥

भावार्थः-जो सूर्य के समान तेजस्वी हैं, जिनकी तपचर्या का तेज उनकी कृश काया होने के पश्चात् भी परिलक्षित होता है अथवा जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से जगत् को प्रकाशित करता है उसी प्रकार मुनिवर भी सकल तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। आत्म स्वरूप और अन्य पदार्थ के स्वरूप को जो संशय, विमोह और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञान से रहित जानना है, वह सम्यग्ज्ञान है।[1] अथवा ज्ञान में अर्थ (विषय) प्रतिबोध के साथ-साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उसको सम्यग्ज्ञान कहना चाहिए।[2] इस प्रकार ज्ञान प्रकाश से युक्त होते हैं। स्व व पर का हित करने वाले हैं। सुजीव-यहाँ सु से भव्य जीव को ग्रहण करना चाहिए। भव्य जीव का आशय है जो सिद्ध होने के योग्य हैं। ऐसे जीवों के कल्याणेच्छुक हैं वे साधु कहलाते हैं।

---

1. संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
   गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु॥42॥ -द्र.सं.
2. सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ व्यवसायात्मकं विदुः। -त.सा.

6

चंदोव्व खलु सीयलो, भवाताव-हारगो सुसाहू सो।
णिग्गंथ-गंथहीणो, भणिदो चित्तपक्खालगो वि॥६॥

अन्वयार्थः– **खलु**–निश्चय ही **चंदोव्व**–चंद्रमा के समान **सीयलो**–शीतल **भवाताव-हारगो**– भवाताप को हरने वाले **णिग्गंथ-गंथहीणो**–ग्रंथ से रहित निर्ग्रंथ **सो**–वह **सुसाहू**–श्रेष्ठ साधु **चित्तपक्खालगो**–चित्त का प्रक्षाल करने वाले **वि**–भी **भणिदो**–कहे जाते हैं।

शशि सम शीतल आभा जिनकी भवाताप हरने वाली,
राग-द्वेष की गांठ न मन में करते आतम रखवाली।
ऐसे निर्ग्रंथ श्रेष्ठ गुरु की भक्ति पूजन आराधन,
निश्चय ही भव्यों के मन का करती सम्यक् प्रक्षालन॥

भावार्थः–जो चंद्रमा के समान सभी को शीतलता प्रदान करते हैं। जिनकी निर्मल–सौम्य मुद्रा और अमृतमयी वाणी भवाताप को नाश करने वाली है कहा भी है–

जग सुहित कर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरै।
भ्रम रोग हर जिनके वचन मुख चंद्र तैं अमृत झरैं॥

वे ग्रंथ अर्थात् अंतरंग व बहिरंग परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ हैं। वे श्रेष्ठ साधु जीवों के चित्त का प्रक्षालन करने वाले भी होते हैं क्योंकि उनके दर्शन से, उपदेशों से चित्त पर जमी कषायों की किट्ट कालिमा धुल जाती है।

7

उसहोव्व सरल-सहजो, भद्दो चोक्खोवयारगो णिच्चं।
तारगो आसिदाणं, भव-सरिदाइ सुट्ठु णावोव्व॥७॥

अन्वयार्थः– **उसहोव्व**–बैल के समान **सरल-सहजो**–सरल-सहज **भद्दो**–भद्र **चोक्खोवयारगो**– अच्छे, उपकारक **णिच्चं**–नित्य **आसिदाणं**–आश्रितों के **तारगो**–तारक मुनिवर **भव-सरिदाइ**–संसार रूपी सरिता में **सुट्ठु**–श्रेष्ठ **णावोव्व**–नाव के समान हैं।

वृषभ समान सरलता जिनमें सहजमूर्ति समताधारी,
श्रेष्ठ भद्रता के जो आलय प्राणीमात्र के हितकारी।
भवसागर में श्रेष्ठ नाव बन निजाश्रितों के तारणहार,
हे निर्ग्रंथ महायोगीश्वर करो नमन मेरा स्वीकार॥

भावार्थः–निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज बैल के समान सरल और सहज हैं, भद्र प्रकृति वाले हैं। वे श्रेष्ठ और उपकारक है। स्तुति करने वालों या निंदा करने वालों सभी के प्रति उपकार करने वाले हैं। अपकारी या उपकारी सभी के उपकार में संलग्न होने से उपकारक हैं। जिस प्रकार शक्तिहीन पक्षी द्वारा समुद्र में तैरते हुए जहाज का आश्रय लेने से (उस पर बैठने से) वह भी समुद्र के तट तक पहुँच जाता है उसी प्रकार दिगंबर मुनि रूपी नाव का आश्रय लेने से भव्य जन संसार रूपी नदी को पार कर लेता है।

8

सायरोव्व गंभीरो, मज्जादाजुत्तो रयणायारो।
मलपक्खालग-धीरो, तच्चणाणिं वंदेज्जा हं।।८।।

अन्वयार्थः– जो मुनि **सायरोव्व**–सागर के समान **गंभीरो**–गंभीर **मज्जादाजुत्तो**–मर्यादा से युक्त **रयणायारो**–रत्नों के आकर (भण्डार) **मलपक्खालग**–मल प्रक्षालक **धीरो**–धैर्यवान् हैं उन **तच्चणाणिं**–तत्त्वज्ञानी निर्ग्रंथ मुनि को **हं**–मैं (वसुनंदी मुनि) **वंदेज्जा**–वंदन करता हूँ।

सागर सम गंभीर हृदय में नहि चपलता का स्थान,
तीन रतन के स्वामी प्रतिपल करते कर्म मलों की हान।
मर्यादा का बांध बना जो सदा सुरक्षित रहते हैं,
तत्त्वज्ञानी उन श्री गुरुवर का नित-प्रति वंदन करते हैं।।

भावार्थः–जो सागर के समान गंभीर हैं, मर्यादायुक्त हैं। सागर अपनी मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं करता। नदियाँ तो तटों को तोड़कर बह निकलती हैं किंतु सागर अपने तटों में, मर्यादा में ही रहता है इसी प्रकार दिगंबर मुनि भी मर्यादित हैं। जिस प्रकार सागर में अनेक रत्न समाए होने से वह रत्नाकर कहलाता है उसी प्रकार गुण रूपी रत्नों के आकर वे मुनि रत्नाकर ही हैं। अथवा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूपी तीन महारत्नों के धारक होने से रत्नाकर हैं। जीवों के पाप को उपचार से मल कहा जाता है।[1] उन पाप या कर्म रूपी मल का प्रक्षालन करने वाले हैं। धैर्यवान् हैं एवं जिस वस्तु का जैसा भाव है, स्वरूप है उसे समझने वाले तथा स्व-पर भेद जानने वाले तत्त्वज्ञानी मुनि की मैं (आचार्य श्री वसुनंदी मुनि) वंदना करता हूँ।

---

1. पावमलं ति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाणं। –ति.प.

9

गयोव्व साहीमाणी, जाचगविंत्ति-रहिदो मणस्सी जो।
तं णिग्गंथं णमामि, कम्मक्खय-कारणं होदि हु॥९॥

अन्वयार्थः– **जो**–जो **गयोव्व**–गज के समान **साहीमाणी**–स्वाभिमानी **जाचगविंत्ति-रहिदो**– याचकवृत्ति से रहित **मणस्सी**–मनस्वी **होदि**–होते हैं **तं**–उन **णिग्गंथं**–निर्ग्रंथ मुनि को **कम्मक्खय-कारणं**–कर्म क्षय के कारण **णमामि**–मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) नमस्कार करता हूँ।

नहीं याचना करें साधना गज समान स्वाभिमानी,
श्रेष्ठ ज्ञान से सहित मनस्वी कोई नहीं इनका सानी।
ऐसे उन निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि को शीश नवाता हूँ,
नमस्कार कर चरणों में निज कर्म कलंक मिटाता हूँ॥

भावार्थः–जो मुनि गज के समान स्वाभिमानी होते हैं। जैसे यदि श्वान के समक्ष कोई भोज्य सामग्री लेकर आता है तो वह देखते ही उसके पास तुरंत जाता है किन्तु हाथी कभी ऐसे नहीं जाता, जब महावत आदि उसको मनाते हैं, बुलाते हैं तभी वह स्वाभिमान पूर्वक उसे ग्रहण करता है। उसी प्रकार मुनि भी दीनता के साथ नहीं स्वाभिमान पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। कहा भी है मुनिराज भोजन के लिए स्तुति नहीं करते और न कुछ माँगते हैं वे मौन व्रत सहित कुछ नहीं कहते हुए भिक्षा के निमित्त विचरते हैं।[1] वे याचक वृत्ति से रहित होते हैं। कभी याचना नहीं करते किसी से कुछ नहीं मांगते। कहा है ''गुण ही तेरी स्त्रियाँ हैं। तथा किसी से याचना करने रूप

---

1. णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं णवि य किंचि जायंते।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता॥817॥ – मू. आ.

वृत्ति भी तुझमें पायी नहीं जाती।[1]'' और जो मनस्वी अर्थात् प्रज्ञावान् हैं, जिनका मानस उन्नत हैं उन निर्ग्रंथों को नमस्कार करता हूँ अथवा उनका वंदन करने से कर्म क्षय होते हैं इसीलिए उन्हें नमस्कार करता हूँ।

1. तव सन्ति गुणाः कलत्रमप्रार्थ्यवृत्तिरसि याति तृथैव याञ्चाम्।। –आ. अनु.

10

णिम्माणदि णो सप्पो, णियगिहस्स कुत्थ वि कस्स वि याले।
परणिम्मिद गिहे वसदि, तह रायविहीण-णिग्गंथो॥१०॥

अन्वयार्थः– जिस प्रकार **सप्पो**–सर्प **कुत्थ वि**–कहीं भी **कस्स वि**–किसी भी **याले**–काल में **णियगिहस्स**–अपने गृह का **णिम्माणदि णो**–निर्माण नहीं करता **परणिम्मिद**–पर निर्मित **गिहे**–गृह में **वसदि**–रहता है **तह**–उसी प्रकार **रायविहीण-णिग्गंथो**–राग से रहित निर्ग्रंथ साधु भी।

ज्यों विषधर रहने हेतु नहि अपना गृह निर्माण करे,
अपितु दूसरों द्वारा निर्मित घर में ही वह वास करे।
राग-द्वेष से हीन साधु भी नहि निज देश बनाते हैं,
तप अनुकूल स्थान देख रुक फिर आगे बढ़ जाते हैं॥

भावार्थः-जिस प्रकार साँप कभी भी अपना घर स्वयं नहीं बनाता अपितु चूहे आदि के द्वारा बनाए गए बिलों में रहता है, उसके रहने का स्थान अनियत होता है उसी प्रकार निर्ग्रंथ साधु भी पर निर्मित-अनियत वसतिका में निवास करते हैं। पुनः राग से रहित होते हुए उस स्थान को छोड़कर आगे विहार करते हैं और अनियत क्षेत्र पर ठहरते हैं। कहा भी है जो समाधिमरण के योग्य है, जिसने मुक्ति के उपायभूत लिंग को धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करने में तत्पर हैं, पाँच प्रकार का विनय करने वाले, अपने मन को वश में करने वाले, ऐसे मुनियों के लिए ग्राम, नगर आदि अनियत क्षेत्र में निवास करना युक्त है।[1]

---

1. योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायलिंगस्य श्रुतशिक्षापारस्य पंचविधविनयवृत्तेः स्ववशीकृतमनसः अनियतवासो युक्तः। -भ.आ./वि.

11

विक्किदो णहो ण होदि, वत्थुं गहिदुं ण खलु समत्थो वा।
देदि अवगाहणं तह, रायदोस-सुण्णो जोगी वि॥११॥

अन्वयार्थः– जिस प्रकार **णहो**–आकाश (अन्य द्रव्यों को अवगाहन देने में) **विक्किदो**– विकृत **ण**–नहीं **होदि**–होता है **वा**–अथवा **वत्थुं गहिदुं**–वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए **समत्थो**– समर्थ **ण**–नहीं होता है **तह**–उसी प्रकार **खलु**–निश्चय से **रायदोस सुण्णो**–राग–द्वेष से शून्य **जोगी**–निर्ग्रंथ योगी **अवगाहणं देदि**–अन्य मनुष्यों को अवगाहना देता है।

ज्यो निर्मल आकाश स्वयं में अन्य द्रव्य आश्रय देता,
किन्तु नहिं किंचित् भी उसका भाव कभी विकृत होता।
राग-द्वेष से रहित साधु भी यों पर को आश्रय देते,
निज आश्रित को क्षणभर में ही निज समान वो कर लेते॥

भावार्थः–आकाश द्रव्य का असाधारण लक्षण अवगाहन देना है।[1] वह आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों को अवकाश देता हुआ भी कभी विकृत नहीं होता है। वह अन्य वस्तुओं को अथवा अन्य द्रव्यों के स्वभाव को कभी ग्रहण नहीं करता व अपने स्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है उसी प्रकार राग–द्वेष से हीन मुनिराज सभी को स्थान देते हैं, स्वयं विकृत नहीं होते। वे निर्ग्रंथ मुनिराज आकाश के समान निरालंबी, निर्लेप और सदाकाल परम पद का अन्वेषण करने वाले होते हैं।

---

1. ओगाहणलक्खणमायासदव्वं। –ध.15

:12:

सहज-कंतिजुत्ता जा, णिम्मल-सहावजुत्ता मणी होदि।
ण गहदि रज-मल-णीरं, विज्जदे जोगी तह लोए॥१२॥

अन्वयार्थः– जिस प्रकार **मणी**–स्फटिक मणि **सहजकंतिजुत्ता**–सहज कांति से युक्त **णिम्मलसहावजुत्ता**–निर्मल स्वभाव से युक्त **होदि**–होती है **जा**–जो **रज-मल-णीरं**–धूल, मल और जल को **ण गहदि**–ग्रहण नहीं करती **तह**–उसी प्रकार **लोए**–लोक में **जोगी**–निर्ग्रंथ योगी **विज्जदे**–विद्यमान हैं।

ज्यो मणि सहज कांति से युत हो दशो दिशा उज्ज्वल करती,
धूल मैल जल ग्रहण करे नहिं निज में निर्मलता धरती।
ऐसे ही गुण सहित योगिजन निर्मलता की मूरत हैं,
शीतलता को देने वाली भगवन् की ये सूरत हैं॥

भावार्थः–जिस प्रकार स्फटिक मणि सहज कांति से युक्त होती है, निर्मल स्वभाव से युक्त होती है, धूल, मल व जल को वह ग्रहण नहीं करती उसी प्रकार योगी भी तप, संयम कांति से युक्त, निज स्वभाव को प्राप्त करने हेतु निर्मल स्वभाव से युक्त होते हैं। वे भी निंदनीय वचन, कर्मादि रूप धूलादि को ग्रहण नहीं करते।

13

उवयारी मेहोव्व य, कप्पतरु-मणि-कामधेणुकुंहोव्व।
ते णिग्गंथा पुज्जा, सव्व-मणोरह-पुण्णगा जे॥१३॥

अन्वयार्थ:– **जे**-जो **मेहोव्व**-बादल के समान **उवयारी**-उपकारी हैं **कप्पतरु-मणि- कामधेणुकुंहोव्व य**-कल्पवृक्ष, चिंतामणि, कामधेनु और कामकुंभ की तरह **सव्व-मणोरह-पुण्णगा**- सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **पुज्जा**-पूज्य हैं।

बादल सम उपकारी गुरुवर ज्ञान सुधा रस देते हैं,
चिंतामणि सम चिंतित फल दे चिंताए हर लेते हैं।
कल्पवृक्ष हैं कामधेनु हैं कामकुंभ विधि चूर्ण करें,
यथाजात निर्ग्रंथ मुनीश्वर सर्व मनोरथ पूर्ण करें॥

भावार्थ:-निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज मेघ के समान उपकारी हैं। जैसे मेघ वृष्टि गर्मी से संतप्त प्राणियों को शीतलता प्रदान करती है, फसल को उत्पन्न करने में परम उपकारी सिद्ध होती है उसी प्रकार निर्ग्रंथ गुरुओं की वाणी भवाताप से तपे संतप्त प्राणियों को शीतलता प्रदान करती है उनकी अमृतमयी देशना आत्मा रूपी भूमि पर धर्म की फसल उत्पन्न करने में हेतु है। दिगंबर मुनिराज कल्पतरु, चिंतामणि रत्न, कामधेनु या कामघट/कामकुंभ के समान हैं जिस प्रकार इनसे व्यक्ति लौकिक यथेष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कर सकता है उसी प्रकार मुनिराज की भक्ति लौकिक या पारमार्थिक सुफलों को देने में समर्थ है। सर्व मनोरथों को पूर्ण करने वाले वे निर्ग्रंथ सदा पूज्य हैं।

:14:

ओसबिंदोव्व विमला, चित्तम्मि करुणा-णीर-संजुत्ता।
अघपक्खालग-वीरा, णिग्गंथा सया णमस्सामि॥१४॥

अन्वयार्थ:– जो **ओस बिंदोव्व**-ओस की बूंद की तरह **विमला**-निर्मल हैं **चित्तम्मि**-चित्त में **करुणा-णीर-संजुत्ता**-करुणा रूपी जल से संयुक्त हैं। वे **अघपक्खालग-वीरा**-पाप का प्रक्षालन करने वाले वीर हैं उन **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधुओं को **सया**-सदा **णमस्सामि**-नमस्कार करता हूँ।

ओस बूंद सम निर्मल जो नित निर्मलता हिय में भरते,
नित करुणा का जल बरसाकर भव्यों को शीतल करते।
धीर-वीर निर्ग्रंथ मुनीश्वर पाप पङ्क को धोते हैं,
जगत्पूज्य गुरुवर के चरणों में नतमस्तक होते हैं॥

भावार्थ:-जिन मुनिराज का चित्त ओस की बिंदु के समान छल, कपट, क्रोधादि विकारी भावों से रहित निर्मल, धवल व उज्ज्वल है, जिनका चित्त रूपी सरोवर दया, करुणा, अहिंसा रूपी नीर से संयुक्त है, जो स्व-पर के पापों को नष्ट करने वाले हैं, पापों के प्रक्षालक हैं, कर्म रूपी सुभटों को पराजित करने से वीर हैं ऐसे निर्ग्रंथ दिगंबर साधुओं को सदा नमस्कार करता हूँ।

15

सव्व-जीवेसु किवा य, दयाणुकंपासहिदखमाजुत्तो।
पण्ण-विरागी समणा, णिग्गंथा हु लोग-मादोव्व॥१५॥

अन्वयार्थ:- **सव्व-जीवेसु**-सर्व जीवों में **किवा**-कृपा **दयाणुकंपासहिदखमाजुत्तो य**-दया, अनुकम्पा से सहित और क्षमा से युक्त **पण्ण-विरागी समणा**-प्रज्ञ और विरागी श्रमण **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ मुनि **हु**-ही **लोग-मादोव्व**-संसार में माता के समान हैं।

सब जीवों पर दया कृपा युत स्नेहिल दृष्टि रखते हैं,
अनुकंपा से सहित क्षमा धारण कर निज गुण चखते हैं।
माता सम हितकारी जग में नित करुणा के धारी हैं,
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु की महिमा सबसे न्यारी है॥

भावार्थ:-सभी जीवों पर दिगंबर निर्ग्रंथ मुनिराज कृपा, दया, अनुकंपा व क्षमा भाव से युक्त होते हैं। अनुकंपा को कृपा समझना चाहिए, बैर के त्यागपूर्वक सर्वप्राणियों पर अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थ भाव और नि:शल्य वृत्ति अनुकंपा है।[1] सभी प्राणियों के प्रति उपकार बुद्धि अनुकंपा है। ऐसे कृपा, दया, अनुकंपा, क्षमाभाव युक्त श्रमण जो बुद्धि के धनी प्रज्ञावान् और विरागी हैं अर्थात् संसार-शरीर-भोगों के प्रति उदासीन रहने वाले हैं वे लोक में निश्चय ही माता के समान हैं। जैसे माता अपने पुत्र के हित में अग्रणीय होती है वैसे ही मुनिराज प्राणी मात्र के हितैषी हैं, वात्सल्य से युक्त हैं अत: माता के समान हैं।

---

1. अनुकंपा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रह:।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नै:शल्यं वैरवर्जनात्॥446॥ -पं.ध.उ.

16

धेणूव्व णेहजुत्ता, गुणपीदि-सहिदा दोसपरिचागी।
दिगवासा णिग्गंथा वच्छलगुणजुत्तच्चणीया॥१६॥

अन्वयार्थः– **धेणूव्व**–गाय के समान **णेहजुत्ता**–वात्सल्य से युक्त **गुणपीदि-सहिदा-दोस परिचागी**–गुणों में प्रीति करने वाला और दोषों का परित्यागी **वच्छलगुणजुत्तच्चणीया**–वात्सल्य गुण से युक्त, पूज्यनीय **दिग्वासा**–दिग्वासा **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ मुनि हैं।

ज्यो गौ निज बछडे पर प्रतिपल निश्छल प्रेम वृष्टि करती,
त्यों गुरुवर की नेह दृष्टि भी मिथ्यातम क्षण में हरती।
गुण से प्रीति रखने वाले दोषों के परित्यागी हैं,
दिग्वासा निर्ग्रंथ गुरुवर पूजनीय बडभागी हैं॥

भावार्थः–चतुर्गति संसार से तिरने के कारणभूत मुनि, आर्यिका आदि चार प्रकार संघ में, बछड़े में गाय की प्रीति की तरह प्रीति करना चाहिए यही वात्सल्य गुण है।[1] अथवा अपने रत्नत्रय धर्म में आदर करना वात्सल्य है।[2] जिनेंद्र प्रणीत धर्म, पंचपरमेष्ठी में प्रीति रखना, अनुराग रखना वात्सल्य है। निर्ग्रंथ मुनिराज गाय के समान स्नेहयुक्त, गुणों में प्रीति रखने वाले, दोषों के परित्यागी होते हैं। दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं, ऐसे दिग्वास निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज जो वात्सल्य युक्त हैं, सदैव पूज्यनीय हैं।

---

1. चादुवण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।
   वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धो॥263॥ –मू.आ.
2. वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो व आत्मनः। –भ.आ.वि. 45/150

17

बहुगुणसत्तीजुत्ता, दोसविदारगा-तावहारगा य।
जलसोसगखमसीला, ते पुढवी व सव्वाहारा॥१७॥

अन्वयार्थः– **ते**–वे निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज **पुढवी व**–पृथ्वी के समान **सव्वाहारा**–सर्व लोक के आधार **बहुगुणसत्तीजुत्ता**–नाना गुणों तथा शक्ति से युक्त **दोसविदारगा-तावहारगा य**–दोषों को दूर करने वाले और ताप–संताप को हरने वाले **जलसोसग-खमसीला**–जल का अवशोषण करने वाले तथा क्षमाशील होते हैं।

धरती सम आधार लोक के अतुलशक्ति से आप सजे,
विविध गुणों के पुंज तपस्वी दोष स्वयं ही दूर भगे।
जिन वच रूपी शीतल जल को निज में अवशोषित करते,
भवाताप को हरने वाले क्षमाशील मुनिवर होते॥

भावार्थः–यहाँ ग्रंथकार निर्ग्रंथ दिगंबर गुरुओं की स्तुति उन्हें पृथ्वी की उपमा देते हुए करते हैं। जैसे पृथ्वी बहुत रत्नों को अपने गर्भ में धारण करती है, बहुत रत्नों से, गुणों से युक्त होती है, शक्ति से युक्त होती है उसी प्रकार निर्ग्रंथ मुनि समता, विनम्रता, सरलता आदि गुण रूपी रत्न व तप बल से प्राप्त ऋद्धि आदि की अपेक्षा शक्ति युक्त होते हैं। यथाजात दिगंबर मुनिराज सभी के दोषों को दूर करने वाले तथा संसार के ताप को हरने वाले हैं, भव्यों के संसार को नष्ट करने वाले हैं। जिस प्रकार पृथ्वी जल को अवशोषित करती है उसी प्रकार मुनिराज जिन वचन रूपी शीतल जल को निज में अवशोषित करते हैं अथवा व्याकरण के अनुसार 'ल' को 'ड़' होने से जड़ होता है अर्थात् निर्ग्रंथ देव जड़ यानि मूर्खों की मूर्खता को अवशोषित कर या उनके अज्ञान को दूर कर सर्व पूज्य विद्वान् बना देते

हैं। तथा पृथ्वी के साथ कोई कैसा भी व्यवहार करे किंतु वह सब सहन करती है, कुपित नहीं होती उसी प्रकार निर्ग्रंथ मुनि भी क्षमा से युक्त होते हैं।

18

मत्तंडोव्व रिसी सो, सवरपयासी पुप्फ-विगासगो वि।
उव्वरपाचणसत्ती, घणणेहस्स य हेऊ होदि॥१८॥

अन्वयार्थः– **सो**–वह **रिसी**–निर्ग्रंथ ऋषिराज **मत्तंडोव्व**–सूर्य के समान **सवरपयासी**–स्वपर प्रकाशी **पुप्फ-विगासगो**–पुष्पों को विकसित करने वाले **उव्वरपाचणसत्ती घणणेहस्स य**–उर्वरा शक्ति, पाचन शक्ति, मेघ और स्नेह का **हेऊ**–हेतु या कारण **वि**–भी **होदि**–होते हैं।

स्वपर प्रकाशी दिनकर गुरुवर गुण बगिया विकसित करते,
बहिरातम को शुद्ध बना फिर परमातम में गढ देते।
मिथ्या मरुभूमि में सम्यग् जल सिंचन कर उपजाते,
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु की गुण गौरव महिमा गाते॥

भावार्थः–निर्ग्रंथ दिगंबर ऋषिराज सूर्य के समान स्व–पर प्रकाशी हैं। ज्ञान से स्वयं को भी प्रकाशित करते हैं और अन्य को भी प्रकाशित करते हैं। जैसे सूर्य की किरणें पुष्पों को विकसित करती हैं उसी प्रकार मुनिराज के दर्शन भव्यों के हृदय कमल को विकसित करने वाले होते हैं अथवा भव्यों के गुण–पुष्पों को विकसित करने वाले होते हैं। जिस प्रकार सूर्य भूमि को उपजाऊ बना देता है, फसल उत्पन्न करने योग्य बना देता है उसी प्रकार निर्ग्रंथ मुनि की वाणी भव्यों की चित्त रूपी भूमि को उपजाऊ बनाकर धर्म रूपी अंकुरों को उत्पन्न करने में समर्थ होती है।

जिस प्रकार सूर्य संसारी प्राणियों की जठराग्नि उद्दीप्त कर भोजन को पचाने की शक्ति या पाचन शक्ति बढ़ाता है उसी प्रकार निर्ग्रंथ दिगंबर गुरु, भक्ति, ध्यानादि की अग्नि उद्दीप्त कर दोषों को, पापों को पचाने की अर्थात् नष्ट करने की शक्ति प्रदान करते हैं। जिस प्रकार

सूर्य का ताप जल का वाष्पीकरण कर उसे मेघ रूप परिवर्तित कर देता है और फिर वे मेघ बरसकर सम्पूर्ण पृथ्वी को हरा-भरा कर देते हैं उसी प्रकार गुरु की दृष्टि नीचे पड़े व्यक्ति (अव्रती) को भी ऊँचा उठाकर अर्थात् (व्रती-महाव्रती बनाकर) उसे सबका हित करने में समर्थ बना देती है अर्थात् उसकी वाणी पुनः अन्य भव्य जीवों का कल्याण करने में उपकारी सिद्ध होती है।

19

पयडीव णिग्गंथा वि, सव्वस्स पिया सुहस्स कारणं च।
चेयणा सील-हेऊ, सव्वहिययारी होंति सया॥१९॥

अन्वयार्थः– णिग्गंथा-निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु **पयडीव**-प्रकृति के समान **सया**-सदा **सव्वस्स-पिया**-सभी के प्रिय **सुहस्स कारणं**-सुख के कारण **चेयणा-सील-हेऊ**-चेतना के स्वभाव का हेतु **च**-और **सव्वहिययारी**-सभी के हितकारी **वि**-भी **होंति**-होते हैं।

प्रकृति समान सुखद अनुभव दे सबके प्रिय सुखकारी हैं,
निज स्वभाव प्रकटाने वाले भव्यों के हितकारी हैं।
जिन्हें देखकर पूर्ण प्रकृति भी प्राकृत मोद मनाती है,
यथाजात निर्ग्रंथ दिगम्बर की छवि चित्त लुभाती है॥

भावार्थः-जिस प्रकार प्रकृति सभी को प्रिय होती है, सभी लोग प्रकृति के समीप रहना चाहते हैं, प्रकृति हरियाली सभी को सुखद अनुभव प्रदान करती है उसी प्रकार निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज सभी के प्रिय होते हैं। सभी के सुख का कारण हैं। जिस प्रकार प्रकृति के समीप पहुँच व्यक्ति का तनाव टूट जाता है वह भी उसी में आनंदित होता है उसी प्रकार निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों में व्यक्ति का दुख-कष्टादि छूट जाता है और वह प्रफुल्लित होता है। शील का अर्थ है-स्वभाव, प्रकृति। वे चेतना के स्वभाव के हेतु हैं अर्थात् प्राणी के आत्म स्वभाव या प्रकृति को प्रकटाने में समर्थ होते हैं। निर्ग्रंथ दिगंबर करुणा के सागर मुनिराज सदा सभी के हितकारी-हित करने वाले होते हैं।

20

पंचमहव्वय-जुत्ता, हिंसाइसव्वपावविहीणा ते।
अप्पसहावे रत्ता, णिग्गंथा सिवसुहं पत्ता॥२०॥

अन्वयार्थः– पंचमहव्वय-जुत्ता-पाँच महाव्रतों से युक्त **हिंसाइ सव्व पाव विहीणा**-हिंसादि सभी पापों से विहीन **अप्पसहावे**-आत्म स्वभाव में **रत्ता**-रत या संलीन **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ मुनि **सिवसुहं पत्ता**- मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाले हैं।

रखें सदा शुभ योग पाप भीरू सबको सुखकारी हैं,
हिंसादि सब पाप त्यागकर पंच महाव्रत धारी हैं।
निज स्वभाव में लीन निरंतर पर में कभी न जाते हैं,
ऐसे मुनि निर्ग्रंथ दिगम्बर मोक्ष महासुख पाते हैं॥

भावार्थः-अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्म (भावों) को पाप कहते हैं।[1] ऐसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पाँच पापों से निर्ग्रंथ साधु विहीन हैं। हिंसादिक पाँचों पापों का मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना महापुरुषों का महाव्रत है।[2] अथवा मोक्ष के कारणभूत ऐसे आचरण, व्रतों का महापुरुषों द्वारा अनुष्ठान किया जाता है अथवा मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से ये महान् व्रत महाव्रत कहलाते हैं। जो ऐसे महाव्रत से युक्त होते हैं तथा आत्म स्वभाव में लीन रहते हैं ऐसे निर्ग्रंथ साधु मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

---

1. पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं। -भ.आ./वि.
2. पंचानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
   कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महतां॥72॥ -र.श्रा.

21

जो मण-वयण-कायेहि, चागदि हिंसाकज्जं तह भावं।
णिम्मलचित्तो हु होदि, णिग्गंथो सो महाजोगी॥२१॥

अन्वयार्थः– **जो**–जो मुनि **मण-वयण-कायेहि**–मन, वचन व काय से **हिंसाकज्जं**–हिंसात्मक कार्य या द्रव्य हिंसा को **तह**–तथा **भावं**–भाव हिंसा को **चागदि**–त्याग देता है **सो**–वह **हु**–निश्चय से **णिम्मलचित्तो**–निर्मल चित्त वाला **णिग्गंथो**–निर्ग्रंथ साधु **महाजोगी**–महायोगी **होदि**–होता है।

द्रव्य भाव हिंसा को जिसने तीन योग से त्याग दिया,
तीन रतन साम्राज्य प्राप्तकर जिनवच में अनुराग किया।
निर्मल चित्धारी महायोगी प्रथम महाव्रतधारी हैं,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ साधु की महिमा जग से न्यारी है॥

भावार्थः–प्रमाद योग से किसी जीव के प्राणों का व्यपरोपण करना अर्थात् पीड़ा देना हिंसा है।[1] किसी प्राणी को दुख पहुँचाना, कष्ट देना, वधादि करना द्रव्य हिंसा है और इस अनुरूप भावों को करना भाव हिंसा है। दोनों प्रकार की हिंसा का मन, वचन, काय तीनों योगों से त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। आ. श्री वट्टकेर स्वामी कहते हैं कि काय, इंद्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु व योनि–इनमें सभी जीवों को जान करके कायोत्सर्ग (ठहरने) आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।[2] रागादि भावों को त्याग करके निर्मल चित्त धारी वे अहिंसा महाव्रत को धारने वाले अहिंसा महाव्रती निर्ग्रंथ महायोगी हैं।

---

1. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा –त.सू. 7/13
2. कायेंद्रियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
   णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा॥5॥ –मूलाचार

22

मोसं चागदि णिच्चं, णवकोडीइ सव्व-खेत्ते-याले।
सो सच्चवयी साहू, तिलोयपुज्जो य विदिय-पहू॥२२॥

अन्वयार्थः– जो मुनि **सव्वखेत्तेयाले**–सभी क्षेत्र और काल में **णवकोडीइ**–नौ कोटि द्वारा **णिच्चं**–नित्य ही **मोसं**–असत्य को **चागदि**–त्याग देता है **सो**–वह **सच्चवयी साहू**–सत्यमहाव्रत धारी निर्ग्रंथ साधु **तिलोयपुज्जो**–तीनों लोकों में पूज्य है **य**–व **विदियपहू**–द्वितीय प्रभु के समान है।

नही बोलते मृषा कभी भी नवकोटि से त्यागी हैं,
वचनामृत रसपान करे जो वही समझ बडभागी है।
तीन लोक वंदित महायोगी सत्य महाव्रत धारी हैं,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ साधु की महिमा जग से न्यारी है॥

भावार्थः–नौ कोटि यानि मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणित करने पर नौ होते हैं। कृत यानि स्वयं करना, कारित यानि कराना और अनुमोदना यानि करते हुए का समर्थन करना। इस प्रकार इन नव कोटि से असत्य भाषण का त्याग करना सत्यमहाव्रत है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचन समूह को असत् वचन कहते हैं[1] असत् कहने से जितने अप्रशस्त अर्थवाची शब्द हैं वे सब अनृत कहे जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणिपीड़ाकारी हैं वे भी अनृत हैं।[2]

इस प्रकार के असत्य वचनों के नवकोटि से त्यागी सत्य महाव्रती कहलाते हैं। कहा भी है राग से, द्वेष से अथवा मोह से होने वाले, मृषा

---

1. मिच्छत्तासंजमकसाय-पमादुट्ठावियो वयणकलापो। -ध. 12
2. असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थं यत् तत्सर्वयनृतमुक्त भवति।
तेन विपरीतार्थस्यप्राणिपीड़ा करस्य चानृतत्वमुपपन्न भवति। -रा.वा. 7

भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है, उसी को सदा दूसरा व्रत है।[1] सत्य महाव्रती निर्ग्रंथ साधु सदा तीनों लोकों में पूज्य हैं और ग्रंथकार ने द्वितीय प्रभु कहकर इनकी स्तुति की। यहाँ प्रतीत होता है घातिया कर्म को नष्ट करने वाले अरिहंत तथा घातिया व अघातिया दोनों प्रकार के कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्धों को प्रथम श्रेणी में रखकर अन्य परमेष्ठियों को द्वितीय प्रभु कहा।

घाति कर्मों के क्षय से जिसने केवलज्ञान के द्वारा परमार्थ को जान लिया है, सकल तत्त्वों का जिसने उपदेश दिया है तथा निज स्वभाव को जिसने प्राप्त कर लिया है, वह प्रभु होता है।[2] अतः अरिहंत-सिद्ध तो प्रभु हैं ही किंतु जो उन्हीं के मार्ग पर चल रहे हैं उन्हीं जैसे बनने का उपक्रम कर रहे हैं उन्हें द्वितीय प्रभु कह उनकी स्तुति की।

---

1. रागेण व दोसेण व मोहेण व मोस भासपरिणामं।
   जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव।। 57।। नि.सा.
2. घाइकम्मखयादो केवलणाणेण विदिदपरमट्ठो।
   उवदिट्ठसयलतत्तो लद्धसहावो पहू होइ।।108।। न.च.वृ.

:23:

परवत्थुं गहणस्स वि, ण किंचि भावो विज्जदे चित्तम्मि।
अप्प-सहावे रत्तो, अदत्तगहण-विरत्त-जोगी॥२३॥

अन्वयार्थः– जिस मुनि के **चित्तम्मि**–चित्त में **परवत्थुं**–पर वस्तु को **गहणस्स**–ग्रहण करने का **किंचि वि**–किंचित् भी **भावो**–भाव **ण**–नहीं **विज्जदे**–रहता है **अप्पसहावे**–जो आत्म स्वभाव में **रत्तो**–रत है वह **अदत्तगहणविरत्त**–अदत्त ग्रहण विरक्त व्रतधारी **जोगी**–निर्ग्रंथ योगी है।

पर वस्तु पर द्रव्य परिग्रह पर की चिंता न करते,
नहिं ग्रहण करते किंचित् भी नहिं भाव मन में धरते।
निज स्वभाव में लीन मुनीश्वर अस्तेय व्रत धारी हैं,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ साधु की महिमा जग से न्यारी है॥

भावार्थः–पर वस्तु अर्थात् जिस पर अपना अधिकार नहीं है ऐसी अन्य की वस्तु को उसके दिए बिना अथवा उससे पूछे बिना ग्रहण नहीं करना अथवा उसे ग्रहण करने का भाव भी मन में नहीं लाना यह अचौर्य महाव्रत है या अदत्त ग्रहण से विरक्त–अदत्त परिवर्जन व्रत है। अदत्त अर्थात् बिना दिये हुए वस्तु के ग्रहण करने में विरक्त, उस रूप भाव से विरक्त अचौर्य महाव्रत है। कहा भी है ग्रामादि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी बड़ी वस्तु है और जो पर के द्वारा संग्रहीत है ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता सो अदत्त–परित्याग नाम का महाव्रत है।[1] ऐसे महाव्रत के धारी योगी आत्म स्वभाव में सदा लीन हैं।

---

1. गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु॥7॥ मूलाचार

24

णो परबंभं कंखदि, णो परदेहं तहेव परत्था य।
जो णियबंभे चिट्ठदि, तं बंभवयि-मुणिं वंदेज्ज॥२४॥

अन्वयार्थः– **जो**-जो मुनि **परबंभं**-परम ब्रह्म या अन्य आत्म तत्त्व की **णो कंखदि**-आकांक्षा नहीं करता है **तहेव**-व उसी प्रकार **परदेहं-परत्था य**-परदेह और परवस्तु की **णो**-आकांक्षा नहीं करता है तथा **णियबंभे**-निज ब्रह्म स्वरूप आत्मा में **चिट्ठदि**-रहता है **तं**-उस **बंभवयि-मुणिं**-ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी निर्ग्रंथ मुनि को **वंदेज्ज**-मैं वंदन करता हूँ।

ब्रह्म स्वरूपी निज आतम में जो नित विचरण करते हैं,
निराकांक्ष पर से होकर वो मुक्ति वधु को वरते हैं।
वंदन उन मुनिवर को जो ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी हैं,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ साधु की महिमा जग से न्यारी है॥

भावार्थः-ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा है। जो मुनि पर ब्रह्म अर्थात् पर आत्म तत्त्व की इच्छा नहीं करता और उस ही प्रकार से पर देह और पर वस्तु की आकांक्षा नहीं करता और अपनी आत्मा में स्थिर रहता है वह ब्रह्मचर्य व्रतधारी है। कहा भी है आत्मा ब्रह्म है, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के संबंध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के ब्रह्मचर्य व्रत होता है।[1] अथवा आचार्य भगवन् श्री वट्टकेर स्वामी ने प्रतिपादित किया है कि जो वृद्धा, बाला या यौवनवती स्त्री को देखकर अथवा उनकी तस्वीरों को देखकर उनको माता, पुत्री, बहन

---

1. आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यंपर। स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः -पं.वि/12

समान समझ स्त्री संबंधी कथादि का अनुराग छोड़ता है वह तीनों लोकों का पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[1] ऐसे ब्रह्मचर्य महाव्रत धारी की मैं वंदना करता हूँ।

---

1. मादुसुदा भीगणीविय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं।।8।। -मूलाचार

25

बेविह-संगच्चागी, चेयणऽचेयणपरिग्गह-रहिदो य।
संगहदि हु अप्पगुणा, अपरिग्गहवयी णिग्गंथो॥२५॥

अन्वयार्थः– जो मुनि **चेयणऽचेयणपरिग्गह-रहिदो**–चेतन और अचेतन परिग्रह से रहित **बेविह संगच्चागी**–अंतरंग और बहिरंग दो प्रकार के परिग्रह का त्यागी है **य**–और **अप्पगुणा**–आत्मगुणों को **संगहदि**–संग्रहीत करता है वह **हु**–निश्चय ही **अपरिग्गहवयी**–अपरिग्रह व्रतधारी **णिग्गंथो**– निर्ग्रंथ साधु है।

द्विविध प्रकार संग के त्यागी अंतरंग बहिरंग पिछान,
चेतन अरु जड परिग्रह को भी ना देते निज में स्थान।
आत्म गुणों के इच्छुक मुनिवर अपरिग्रह व्रतधारी हैं,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ साधु की महिमा जग से न्यारी है॥

भावार्थः-संग अर्थात् परिग्रह। सब तरफ से ग्रहण करने रूप मूर्च्छा परिणाम को परिग्रह कहते हैं।[1] यह अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया व लोभ ये 14 भेद अंतरंग परिग्रह के हैं। क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड-ये दश बाह्य परिग्रह हैं। जो इन अंतरंग-बाह्य परिग्रह से रहित हैं तथा जो चेतन व अचेतन परिग्रह से रहित हैं व आत्म गुणों का संग्रह करते हैं वे निर्ग्रंथ मुनि अपरिग्रह व्रत के धारी होते हैं। यही इनका अपरिग्रह व्रत है। कहा भी है जीव संबंधित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए ऐसे ये तीन

---

1. परिग्रहाः समन्नत आदानरूपा मूर्च्छा। – मूला./आ.वृ.
2. जीवणिबद्धाबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
   तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोसंगो।।9।। –मूलाचार

प्रकार के परिग्रह हैं। इनका शक्ति से त्याग करना और इतर परिग्रह में (शरीर उपकरणादि में) निर्मम होना यह असंग अर्थात् अपरिग्रह नामक पंचम व्रत है।

26

पणविहसमिदी भणिदा, महव्वयाण रक्खिगा णादव्वो।
समिदिसहिदमुणी हु, ते णिग्गंथा कम्महंता जे॥२६॥

अन्वयार्थ:- **पणविह समिदी**-समिति पाँच प्रकार की **भणिदा**-कही गयी हैं जिन्हें **महव्वयाण-रक्खिगा**-महाव्रतों की रक्षा करने वाली **णादव्वो**-जानना चाहिए **ते**-वे **हु**-निश्चय से **समिदि सहिद मुणी**-पंच विध समिति से सहित मुनि **णिग्गंथा**-निर्ग्रन्थ हैं **जे**-जो **कम्महंता**-कर्मों का नाश करने वाले हैं।

ईर्या भाषादि भेदो युत पंच प्रकार समितियाँ जान,
महाव्रतों की रक्षा हेतु जो कहलाती बाड़ समान।
पंच प्रकार समिति धारी निर्ग्रंथ दिगम्बर कहलाते,
विधि हन्ता ऋषिवर का वंदन करके हम सब सुख पाते॥

भावार्थ:-सम्यक् अयन अर्थात् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। गमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करना समिति है। ये समितियाँ ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन के भेद से पाँच प्रकार की कही गयी हैं।[1] ये समितियाँ महाव्रतों के रक्षा के लिए बाड़ स्वरूप हैं। जो मुनि समिति सहित हैं वे कर्मों को नष्ट करने वाले निर्ग्रंथ मुनिराज हैं।

---

1. इरिया भासाएसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंचसमिदीओ।।37।। -चा.पा.

27

गच्छंति सकज्जेणं, दिट्ठा चउकरभूमिं सुपयासे।
इरियासमिदिजुत्ता हु, देवपुज्जा णिग्गंथा ते॥२७॥

अन्वयार्थः– जो मुनि **सकज्जेणं**–किसी कार्य या प्रयोजन से **चउकरभूमिं**–चार हाथ भूमि को **सुपयासे**–अच्छे प्रकाश में **दिट्ठा**–देखकर **गच्छंति**–जाते हैं या चलते हैं **ते**–वे **हु**–निश्चय से **देवपुज्जा**–देवों द्वारा पूज्य **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ साधु **इरिया-समिदिजुत्ता**–ईर्या समिति से युक्त हैं।

जीवों की रक्षार्थ योगिजन दिन में ही विचरण करते,
चार हाथ आगे धरती को लखकर फिर निज पग धरते।
दया भाव युत ऐसे ऋषिगण ईर्या समिति के धारक हैं,
देवों से भी वंदित हैं वो पाप ताप संहारक हैं॥

भावार्थः–गमन–आगमन को ईर्या कहते हैं।[1] और सम्यक् प्रवृत्ति समिति कही जाती है।[2] जो सदैव प्रकाश में यहाँ प्रकाश से आशय सूर्य के प्रकाश का है, सूर्य के उदित हो जाने पर उसके प्रकाश में चक्षु से स्पष्ट दिखने पर चार हाथ आगे जमीन को देखते हुए अर्थात् अच्छी तरह एकाग्रचित पूर्वक पैर रखने के स्थान का अवलोकन करते हुए, सकार्य अर्थात् तीर्थ यात्रा, गुरुदर्शन, वाचना आदि के प्रयोजन से गमन करते हैं ऐसी ईर्या समिति के धारक निर्ग्रंथ साधु देवों द्वारा पूजनीय हैं। कहा भी है प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखने वाले साधु के द्वारा दिवस में प्रासुक मार्ग से जीवों का परिहार करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है।[3] ऐसी समिति से युक्त साधु सदैव वंदनीय हैं।

---

1. ईर्यागमनागमनादिकं
2. समितयः सम्यक्प्रवृत्तयः – मू./आ.वृ.
3. फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण।
   जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं।। 11 मूलाचार

28

हियमियपियवयणाइं, जो भासदि खलु पयोजणभूदाणि।
भासासमिदिसहिदं वि, णिग्गंथ-साहुं वंदे हं॥२८॥

अन्वयार्थः- **जो**-जो मुनि **पयोजणभूदाणि**-प्रयोजन भूत **हियमियपियवयणाइं**-हितमित और प्रिय वचनों को **खलु**-ही **भासदि**-बोलता है, उन **भासासमिदिसहिदं**-भाषा समिति से युक्त **णिग्गंथसाहुं**-निर्ग्रंथ साधु को **वि**-भी **हं**-मैं **वंदे**-वंदन करता हूँ।

जिनके मुख से निकली हर इक वाणी प्रिय हितकारी है,
पाप पङ्क का क्षारण करती सीमित है सुखकारी है।
बिना प्रयोजन कुछ नहीं कहते, बोले अमृत बरसाते,
भाषा समिति युत यतिवर के चरणों में हम झुक जाते॥

भावार्थः-हित-मित-प्रिय वचन सभी का हित करने वाले अर्थात् कर्मबंध के कारणों से रहित हितकारी, आवश्यकतानुसार सीमित एवं कर्ण प्रिय अर्थात् सुनने में अच्छे लगने वाले वचन, एवं प्रयोजनभूत वचनों को कहना, अनर्गल प्रलाप नहीं करना कर्कश, हंसी, चुगली आदि नहीं करना इस प्रकार हित-मित-प्रिय और प्रयोजन भूत वचनों को कहना ही भाषा समिति है। कहा भी है चुगली, हँसी, कठोरता, परनिंदा, आत्म प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर अपने और पर के लिए हितरूप बोलना भाषा समिति है।[1] ऐसे भाषा समिति से सहित साधु की वंदना करता हूँ।

---

1. पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पसंसविकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं॥12॥ -मूलाचार

:29:

बेतीस-अंतरायं, गिण्णदि जो छेदालीसदोसं वि।
सो मुणिणाहो पालदि, एसणासमिदिं तिजोगेहि॥२९॥

अन्वयार्थः– **जो**–जो मुनि **बेतीस-अंतरायं**–बत्तीस अन्तराय को और **छेदालीस-दोसं**–छियालिस दोष को **वि**–भी **गिण्णदि**–गिनते हैं **सो**–वह **मुणिणाहो**–मुनिनाथ **तिजोगेहिं**–तीनों योगों के द्वारा **एसणा समिदि**–एषणा समिदि को **पालदि**–पालते हैं।

तप वृद्धि के हुत साधुजन दिन में ही भोजन करते,
अंतराय बत्तीस दोष छयालीस ध्यान में नित रखते।
मन वच तन तीनों योगों से समिति एषणा को पालें,
ऐसे वे निर्ग्रंथ साधुजन पाप मेरे सब ही टालें॥

भावार्थः–उद्गम, उत्पादन आदि छयालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार निर्दोष कहलाता है। दोष 46 कहे गए हैं। दाता में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहारादि उद्गच्छति–उत्पन्न होता है–वह उद्गम दोष हैं। ये उद्गम दोष औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्रादुष्कार, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोह, अच्छेद व अनिसृष्ट के भेद से 16 हैं।

1. **औद्देशिक दोष**–जो उद्देश्य करके–निमित्त करके किया जाता है अथवा जो उद्देश्य से हुआ है वह औद्देशिक दोष है।

2. **अध्यधि दोष**–संयत को आते देखकर भोजन पकाना प्रारम्भ करना अर्थात् संयत को देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना अध्यधि दोष है।

3. **पूति दोष**–अप्रासुक और प्रासुक वस्तु का सहेतुक मिश्रण करना यह पूतिदोष है।

4. **मिश्र दोष**–असंयतों से मिश्रण करके–साथ में भोजन कराना मिश्र दोष है।

5. **स्थापित दोष**–भोजन पकाने वाले पात्र से निकालकर अपने घर में अथवा अन्य के घर में रख देना स्थापित दोष है।

6. **बलि दोष**–नैवेद्य या देवार्चना के भोजन को आहार में देना बलिदोष है।

7. **प्रावर्तित दोष**–काल की हानि या वृद्धि करके आहार देना प्रावर्तित दोष है।

8. **प्रादुष्कार दोष**–मंडप आदि का प्रकाशन करना प्रादुष्करण दोष है।

9. **क्रीत दोष**–खरीदकर लाकर देना क्रीत दोष है।

10. **प्रामृष्य दोष**–सूक्ष्म ऋण–कर्जा लेकर अथवा उधार लाकर आहार देना प्रामृष्य दोष है।

11. **परिवर्तक दोष**–कोई वस्तु के बदले में लाकर आहार में देना परिवर्तक दोष है।

12. **अभिघट दोष**–अन्य देश से लाया हुआ भोजन देना अभिघट दोष है।

13. **उद्भिन्न दोष**–ढके हुए या मुद्रा से बन्द हुए जो औषधि, घी, शक्कर आदि हैं उन्हें खोल कर देना सो उद्भिन्न दोष है।

14. **मालारोहण दोष**–नसैनी से गृह के ऊपर भाग में चढ़कर लाकर कुछ देना मालारोहण दोष है।

15. **अच्छेद्य दोष**–त्रासहेतु–डर से आहार देना अच्छेद्य दोष है।

16. **अनिसृष्ट दोष**–अप्रधान दाता के द्वारा दिये हुए भोजन को लेना अनिसृष्ट दोष है।

पात्र में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है वह उत्पादन दोष है। धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्वस्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्णयोग व मूलकर्म ये 16 उत्पादन दोष हैं।

1. **धात्री दोष**–धात्री अर्थात् माता के समान बालक का लालन आदि करके आहार ग्रहण करना धात्री दोष है।

2. **दूत दोष**–स्व से पर ग्राम में या स्वदेश से परदेश में जल, स्थल या आकाश से जाते समय किसी के सम्बन्धी के वचनों को ले जाना यह दूत दोष है।

3. **निमित्त दोष**–स्वर, अन्तरिक्ष (ज्योतिष), भौम, अङ्ग, व्यञ्जन, छिन्न, लक्षण और स्वप्न इन अष्टाङ्ग निमित्तों से श्रावकों को आकृष्ट कर आहार लेना निमित्त नाम का दोष है।

4. **आजीव दोष**–जाति, कुल, शिल्प, तप और ईश्वरता ये आजीव हैं। इनसे आहार का उत्पन्न कराना यह आजीव दोष है।

5. **वानीपक दोष**–कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, भ्रमण और कौवा इनको दान आदि करने से पुण्य है या नहीं ? ऐसा पूछने पर आहार प्राप्ति के उद्देश्य से पुण्य है ऐसा कहकर आहार प्राप्त करना वानीपक दोष है।

6. **चिकित्सा दोष**–चिकित्सा के द्वारा गृहस्थों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना चिकित्सा दोष है।

7. **क्रोध चतुष्क दोष**–क्रोध, मान, माया, लोभ दिखाकर आहार प्राप्त करना क्रमशः क्रोध दोष, मान दोष, माया दोष व लोभ दोष है।

8. **पूर्वस्तुति दोष**–तुम दान पति हो अथवा यशस्वी हो, इस तरह दाता के सामने उसकी प्रशंसा करना और उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद दिलाना पूर्व-संस्तुति नाम का दोष है।

9. **पश्चात् स्तुति दोष**-इसी प्रकार आहार के पश्चात् स्तुति करना पश्चात् स्तुति नामक दोष है।

10. **विद्या दोष**-जो साधित सिद्ध है वह विद्या है। उसकी आशा प्रदान करने या उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है।

11. **मंत्र दोष**-जो पढ़ते ही सिद्ध हो वह मन्त्र है। उस मंत्र के लिए आशा देने से और उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना सो मंत्र दोष है।

12. **चूर्ण दोष**-नेत्रों के लिए अंजनचूर्ण और शरीर को भूषित करने वाले भूषणचूर्ण ये चूर्ण हैं। इन चूर्णों से आहार उत्पन्न कराना सो वह चूर्ण दोष होता है।

13. **मूलकर्म दोष**-अवशों का वशीकरण करना और वियुक्त हुए जनों का संयोग कराना यह मूलकर्म कहा गया है। इस मूलकर्म के द्वारा आहार उत्पन्न कराकर आहार लेना मूलकर्म दोष है।

जिन पारिवेशक-परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशन दोष कहलाती है। शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त व छोटित ये दस असन दोष हैं।

1. **शंकित दोष**-यह अन्न सेवन करने योग्य है अथवा अयोग्य है ऐसी शंका जिसमें हो गई हो वह शंकित नाम का दोष है।

2. **म्रक्षित दोष**-चिकने हाथ अथवा पात्र आदि से जो आहार दिया जाता है वह म्रक्षित नाम का दोष है।

3. **निक्षिप्त दोष**-सचित्त कमल पत्र आदि पर रखकर जो दिया जाता है वह निक्षिप्त दोष है।

4. **पिहित दोष**-सचित्त पद्मपत्र आदि से ढककर जो दिया जाता है वह पिहित नाम का दोष है।

5. **संव्यवहरण दोष**–यदि देने के लिए बर्तन आदि को खींचकर बिना देखे दे देवें तो संव्यवहरण दोष होता है।

6. **दायक दोष**–अशुद्ध दायक के द्वारा यदि आहार दिया जाए तो दायक नामक दोष होता है।

7. **उन्मिश्र दोष**–पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और सजीव त्रस इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र होता है। ऐसा आहार लेना उन्मिश्र दोष है।

8. **अपरिणत दोष**–अग्नि आदि द्रव्यों से जिसके पहले के रूप गन्ध तथा रस में परिवर्तन नहीं हुआ हो अर्थात् जो अपक्व हो वह अपरिणत/अपक्व नाम का दोष है।

9. **लिप्त दोष**–अप्रासुक वर्ण आदि से संसक्त वस्तु लिप्त है। उस गेरु आदि से लिप्त हुए बर्तन आदि से दिया गया आहार आदि लेना लिप्त दोष है।

10. **छोटित दोष**–बहुत सा गिराकर, या गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर और भोजन करते समय गिराकर जो आहार करना है वह छोटित दोष है।

जो भोजन और पान को मिला देता है (ठण्डे में गर्म अथवा अन्य परस्पर विरुद्ध वस्तुओं को मिलाना) वह संयोजन दोष है। अतिमात्र आहार लेना प्रमाण दोष है। गृद्धि युक्त आहार लेना अंगार दोष है और निंदा करते हुए कि यह भोजन विरूपक है या मेरे लिए अनिष्ट है यह धूम दोष है।

इस प्रकार मुनिजन 46 दोषों से रहित और 32 अंतरायों का भी परिहार करते हुए आहार ग्रहण करते हैं। काक, अमेध्य, वमन, रोधन, अश्रुपात, रुधिर, जान्वधः परामर्श, जानूपरिव्यतिक्रम, नाभि से नीचे

निर्गमन, प्रत्याख्यात सेवना, जन्तुवध, काकादि पिंडहरण, पाणिपात्र से पिंडपतन, पाणिपुट में जंतुवध, माँसादि दर्शन, उपसर्ग, पादान्तर में जीव संपात, भाजन संपात, उच्चार, प्रस्रवण, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदंश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदरकृमि निर्गमन, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्राम दाह, पादेन किंचित् ग्रहण व करेण किंचित् ग्रहण यें 32 अंतराय कहे।

1. **काक**-गमन करते हुए या स्थित मुनि के ऊपर काक, वक आदि पक्षी बीट कर देवे तो काक नाम का अन्तराय है।

2. **अमेध्य**-अशुचि पदार्थ विष्ठा आदि से यदि पैर लिप्त हो जाए तो अमेध्य नाम का अन्तराय है।

3. **वमन**-यदि स्वयं को वमन हो जाए तो वमन नाम का अंतराय है।

4. **रोधन**-यदि कोई उस समय रोक दे या पकड़ ले तो रोधन नामक अंतराय है।

5. **अश्रुपात**-दु:ख से यदि अपने अथवा पास में स्थित किसी अन्य के भी अश्रु आ जावें तो अश्रुपात नामक अंतराय है।

6. **रुधिर**-यदि अपने या अन्य के शरीर से रुधिर निकलता हुआ दिख जाए तो रुधिर नामक अंतराय है।

7. **जान्वध: परामर्श**-घुटनों से नीचे भाग का यदि हाथ से स्पर्श हो जाए तो जान्वध: परामर्श नामक अंतराय है।

8. **जानूपरिव्यतिक्रम**-घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जावे तो जानूपरिव्यतिक्रम नामक अंतराय है।

9. **नाभ्यधोनिर्गमन**-नाभि से नीचे मस्तक करके यदि निकलना पड़ जाए तो नाभ्यधोनिर्गमन नामक अंतराय है।

10. **प्रत्याख्यात सेवना**–जिस वस्तु का त्याग है यदि उसका भक्षण हो जावे तो प्रत्याख्यात सेवना नामक अंतराय है।

11. **जन्तु वध**–यदि अपने से या अन्य के द्वारा सामने किसी जन्तु का वध हो जावे तो जन्तुवध नामक अंतराय है।

12. **काकादिपिंडहरण**–यदि कौवें आदि हाथ से ग्रास हरण कर लेवें तो काकादिपिंडहरण नामक अंतराय है।

13. **पिंडपतन**–यदि आहार करते हुए अपने पाणि पात्र से पिंड–ग्रास मात्र का पतन हो जावे तो पिंडपतन नामक अंतराय है।

14. **पाणौ जन्तुवध**–यदि आहार करते हुए के पाणिपुट में कोई जन्तु स्वयं आकर मर जावे तो पाणौ जन्तुवध नामक अंतराय है।

15. **मांसादिदर्शन**–यदि मरे हुए पंचेन्द्रिय जीव के शरीर का मांस आदि दिख जावे तो मांसादि दर्शन नामक अंतराय है।

16. **उपसर्ग**–यदि देवकृत आदि उपसर्ग हो जावे तो उपसर्ग नामक अंतराय है।

17. **पादांतरे जीव**–यदि पंचेन्द्रिय जीव पैरों के अन्तराल से निकल जावे तो पादांतरे जीव नामक अंतराय है।

18. **भाजन संपात**–यदि आहार देने वाले के हाथ से बर्तन गिर जावे तो भाजन संपात नामक अंतराय है।

19. **उच्चार**–यदि अपने उदर से मल च्युत हो जावे तो उच्चार नामक अंतराय है।

20. **प्रस्रवण**–यदि अपने मूत्रादि हो जावे तो प्रस्रवण नामक अंतराय है।

21. **अभोज्य गृहप्रवेश**–यदि आहार हेतु पर्यटन करते हुए मुनि का चांडाल आदि अभोज्य के घर में प्रवेश हो जावे तो अभोज्य गृहप्रवेश नामक अंतराय है।

22. **पतन**–यदि मूर्च्छा आदि से अपना पतन हो जावे तो पतन नामक अंतराय है।

23. **उपवेशन**–यदि बैठना पड़ जावे तो उपवेशन नामक अंतराय है।

24. **सदंश**–यदि कुत्ता आदि काट खाये तो सदंश नामक अंतराय है।

25. **भूमिस्पर्श**–सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे तो भूमिस्पर्श नामक अंतराय है।

26. **निष्ठीवन**–यदि अपने मुख से थूक, कफ आदि निकल जावें तो निष्ठीवन नामक अंतराय है।

27. **उदरकृमि निर्गमन**–यदि उदर से कृमि निकल पड़े तो उदरकृमि निर्गमन नामक अंतराय है।

28. **अदत्तग्रहण**–यदि बिना दी हुई कुछ वस्तु ग्रहण कर लेवे तो अदत्त ग्रहण नामक अंतराय है।

29. **प्रहार**–यदि अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि से प्रहार हो जाये तो प्रहार नामक अंतराय है।

30. **ग्रामदाह**–यदि ग्राम में अग्नि लग जावे तो ग्रामदाह नामक अंतराय है।

31. **पादेन किंचित् ग्रहण**–यदि पैर से कुछ ग्रहण कर लिया जावे तो पादेन किंचित् ग्रहण नामक अंतराय है।

32. **करेण किंचिद् ग्रहण**–यदि हाथ से कुछ वस्तु भूमि पर ग्रहण कर ली जावे तो करेण किंचिद् ग्रहण नामक अंतराय है।

इस प्रकार 46 दोषों से रहित, 32 अंतरायों का पालन करते हुए जो मुनिराज समभाव से आहार ग्रहण करते हैं वे त्रियोग से एषणा

समिति के धारक हैं। कहा भी है उद्गम, उत्पाद, एषणा दोषों के द्वारा आहार, उपकरण और वसतिका को शोधने वाले मुनि के एषणा समिति शुद्ध होती है।[1]

---

1. उग्गमउप्पादणएसणेहिं पिंडं च उवधि सज्जं च।
सो धंतस्यमुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदि।।318।। –मूलाचार

30

पिच्छि-पुत्थ-कमंडलं, साहू विसुज्जा गहंति ठावंति।
आदाण-णिक्खेवणं, पालंति केहि णो पुज्जंति॥३०॥

अन्वयार्थः– **साहू**–जो निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु **पिच्छि-पुत्थ-कमंडलं**–पिच्छिका, पुस्तक और कमण्डलु को **विसुज्जा**–अच्छी तरह शोधकर **गहंति**–उठाते हैं और **ठावंति**–रखते हैं, वे **आदाण-णिक्खेवणं**– आदान-निक्षेपण समिति को **पालंति**–पालते हैं **केहि**–ऐसे साधु किसके द्वारा **णो**–नहीं **पुज्जंति**–पूजे जाते हैं अर्थात् सभी के द्वारा पूजे जाते हैं।

संयम का साधन पिच्छी संयम से रखते ग्रहण करें,
ज्ञान शौच साधन का भी जो देखभाल उपयोग करें।
चतुर्थ समिति के धारी मुनिजन हरक्षण कर्म नशाते हैं,
निष्प्रमादी चर्या कर निश्चित मोक्ष महल को जाते हैं॥

भावार्थः–पिच्छी, कमंडलु, पुस्तक आदि को, सूक्ष्म जीवों के रक्षार्थ पिच्छिका से प्रतिलेखन कर उठाना अथवा रखना, देखकर, शोधकर यत्नपूर्वक ग्रहण करना या रखना यह साधुओं की आदान-निक्षेपण समिति है। कहा भी है ज्ञान के उपकरण, संयम के उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य भी उपकरण को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना यह आदान निक्षेपण समिति है।[1] ऐसी समिति के पालन करने वाले किनके द्वारा पूज्य नहीं होते अर्थात् सभी के द्वारा पूजे जाते हैं।

---

1. णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा॥14॥ –मूलाचार

31

जे भूमिं खलु दिट्ठा, मलं चागंति सुसंजमी धीरा।
उस्सग्गसमिदि-जुत्ता, णरिंदेहि पुज्जा होंति ते॥३१॥

अन्वयार्थः– **जे**-जो **सुसंजमी धीरा**-सुसंयमी, धैर्यवान् निर्ग्रंथ साधु **भूमिं**-भूमि को **दिट्ठा**-अच्छी तरह देखकर **मलं**-मल को **चागंति**-त्यागते हैं **ते**-वे **उस्सग्गसमिदि-जुत्ता**-उत्सर्ग या प्रतिष्ठापन समिति से युक्त निर्ग्रंथ साधु **खलु**-निश्चय ही **णरिंदेहि**-नरेन्द्रों द्वारा अथवा चक्रवर्तियों द्वारा **पुज्जा**-पूज्य **होंति**-होते हैं।

उत्सर्ग समिति धारी, जीवों को किंचित् कष्ट न दे सकते,
इसीलिए प्रासुक भूमि लख मल आदि क्षेपण करते।
जीवदया से युक्त दिगम्बर मुनि को शीश नवाता हूँ,
नरपति से वंदित ऋषिवर की गौरव गाथा गाता हूँ॥

भावार्थः-भूमि को देख करके मल का त्याग करना। वह भूमि किस प्रकार की हो तो कहा है कि जहाँ पर असंयतजनों का गमनागमन न हो, हरित काय या त्रस काय आदि से रहित हो, नगर-गाँवादि से दूर हो, मर्यादा सहित हो अर्थात् जहाँ लोगों की दृष्टि न पड़े, बिलादि से रहित हो, जहाँ पर लोगों की रोक-टोक न हो ऐसी भूमि को यत्नपूर्वक देख करके जहाँ सूक्ष्म जीवों की विराधना न हो, वहाँ शरीर के मलमूत्रादि का त्याग करना सुसंयमी व धीर निर्ग्रंथ मुनियों की उत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति है। इस समिति के पालक मुनिराज नर व इंद्रों अथवा नरेंद्र चक्रवर्तियों के द्वारा पूजनीय होते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि जहाँ स्थावर या जंगम जीवों की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तु स्थान में मल-मूत्रादि का विसर्जन करना और शरीर का रखना उत्सर्ग समिति है।[1]

---

1. स्थावराणां जंगमानां च जीवादीनाम् अविरोधेनांगमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनं उत्सर्गसमितिरवगन्तव्या। -रा.वा./9

32

इंदियाइं हु जयंति, रायद्देसकसायं खीणेदुं।
परमप्पं ते लहंति, णमो सया णिग्गंथ-जिणाण॥३२॥

अन्वयार्थः– जो **रायद्देसकसायं खीणेदुं**–राग, द्वेष व कषाय को क्षीण करने के लिए **हु**–निश्चय ही **इंदियाइं**–इंद्रियादि को **जयंति**–जीतते हैं **ते**–वे **परमप्पं**–परमात्म पद को **लहंति**–प्राप्त करते हैं ऐसे उन **णिग्गंथ-जिणाण**–निर्ग्रंथ जिनों को **सया**–सदा **णमो**–नमस्कार हो।

राग द्वेष अरु विषय कषायों पापों के क्षय करने को,
अक्ष विषय के जेता होते कर्म वज्र के दलने को।
धन्य-धन्य ऐसे मुनिवर जो परमातम पद पाते हैं,
उन निर्ग्रंथ जिनों के चरणों में हम शीश झुकाते हैं॥

भावार्थः-स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की शक्ति का नाम इंद्रिय है। इंद्रियाँ दो प्रकार की हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। निर्वृत्ति और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय है। यह निर्वृत्ति भी दो प्रकार की है-बाह्य और आभ्यन्तर। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इंद्रियों के आकार रूप से अवस्थित शुद्ध आत्म प्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं और उन आत्मप्रदेशों में इंद्रिय इस नाम को प्राप्त प्रतिनियत आकार रूप नामकर्म के उदय से होने वाला अवस्था विशेष रूप जो पुद्गल वर्गणाओं का समूह है वह बाह्य निर्वृत्ति है।

जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है। इसके भी दो भेद हैं-आभ्यंतर व बाह्य। नेत्रेन्द्रिय में कृष्ण और सफेद मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रों की पलक और बिरौनी आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों में भी समझना चाहिए।

भावेन्द्रियों के भी दो भेद हैं-लब्धि और उपयोग। लब्धि, यह ज्ञानावरण कर्म क्षयोपशम विशेष है अर्थात् जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है वह लब्धि है। उस निमित्तक आत्मा का परिणाम उपयोग है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामक नामकर्म के लाभ से प्राप्त हुए बल से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन है। इन्हीं कर्मों के क्षयोपशम और उदय के बल से अर्थात् वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण के अंतर्गत रसनेंद्रिय आवरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से आत्मा जिसके द्वारा चखता है उसे रसना कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा जिसके द्वारा सूंघता है वह घ्राण, जिसके द्वारा देखता है वह चक्षु, जिसके द्वारा सुनता है वह कर्णेन्द्रिय है।

इंद्रियों के विषय भी सामान्यत: 5 प्रकार के हैं-स्पर्श, रस, गंध, रूप व शब्द। इन अपने-अपने विषयों से मुनि के जो स्पर्शन आदि इंद्रियों के निरोध होते हैं वे पंचेन्द्रिय निरोध मूलगुण कहलाते हैं। कहा भी है-मुनि को चाहिए कि वह चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन पाँच इंद्रियों को अपने विषयों से हमेशा रोके।[1] इन इंद्रियों को जो राग, द्वेष व कषाय के क्षय के लिए जो जीतते हैं वे निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज परमात्म पद को प्राप्त करते हैं।

ग्रंथकार ने यहाँ निर्ग्रंथ-जिन कहते हुए उन्हें नमस्कार किया। आचार्य पद्मनंदी स्वामी, आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने भी निर्ग्रंथ मुनिराजों को केवली या जिन के समान कहा है। कहा है-वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली प्रभु इस भरत क्षेत्र में नहीं हैं जगत्प्रकाशिनी केवली प्रभु की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी

1. चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा।।16।। -मूलाचार

के आधार स्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं इसीलिए उन मुनि का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली का पूजन है।[1]

---

1. सम्प्रत्यस्ति न केवल किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणिः।
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रे जगद्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः।। –प.पं.

33

वसुविहफास विसया य, चागंति फासिंदियजयी धीरा।
णिग्गंथं जगपुज्जं, खयंति कम्माणि वंदणेण॥३३॥

अन्वयार्थ:– **य**–"और" अनुक्रम से दोनों श्लोकों को जोड़ने के लिए है। **फासिंदिय जयी**–स्पर्शेन्द्रिय को जीतने वाले **धीरा**–धीर मुनिराज **वसुविह फास विसया**–स्पर्शनेंद्रिय के आठ प्रकार के विषयों को **चागंति**–त्याग देते हैं ऐसे **जगपुज्जं**–जगत में पूज्य **णिग्गंथं**–निर्ग्रंथ मुनि को **वंदणेण**–वंदन करने से **कम्माणि**–कर्म **खयंति**–क्षय हो जाते हैं।

स्पर्शजनित विषयों में फसकर रागी हुआ विकारी है,
जो इन विषयों में नहि फसता वो शिव सुख अधिकारी है।
आठों विषयों को तजकर जो मुनिजन हुए धैर्यधारी,
जगत्पूज्य उन यति का वंदन होता पाप तापहारी॥

भावार्थ:–'य' 'और' यह अनुक्रम से दोनों श्लोकों को जोड़ने के लिए है। कठोर, कोमल, हल्का, भारी, रूखा, चिकना, ठण्डा व गर्म ये आठ प्रकार के स्पर्शेन्द्रिय के विषय हैं। जो इन्हें जीतते हैं अर्थात् उनमें आह्लाद नहीं करते, हर्ष-विषाद नहीं करते। ऐसे स्पर्शेन्द्रिय जयी धीर निर्ग्रंथ मुनिराज हैं जिनकी वंदना करने से कर्मों का क्षय हो जाता है। कहा भी है–जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दु:ख रूप स्पर्श में मोह रागादि नहीं करना स्पर्शनेन्द्रिय निरोध है।[1]

---

1. जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो॥21॥ –मूलाचार

34

असणाइ चउविहा वा, पणविहा रसा लोए विज्जंते।
रसणिंदिय-जेत्ता जे, णिग्गंथ-सिरोमणी-साहू॥३४॥

अन्वयार्थः– **असणाइचउविहा**–अशन आदि चार प्रकार के भोज्य पदार्थ **वा**–या **पणविहा रसा**–पाँच प्रकार के रस **लोए**–लोक में **विज्जंते**–विद्यमान हैं **जे**–जो मुनि **रसणिंदिय जेत्ता**–रसनेन्द्रिय को जीतने वाले हैं वे **णिग्गंथ-सिरोमणी साहू**–निर्ग्रंथों में शिरोमणि साधु हैं।

नाना विध रस मिश्रित भोजन आसक्ति का कारण है,
असनादि चउ भोज्य वस्तु का यतिजन करें निवारण हैं।
रसना इन्द्रिय जेता भगवन् श्रेष्ठ यति अविकारी हैं,
ऐसे उन निर्ग्रंथ गुरु को शत-शत ढोक हमारी है॥

भावार्थः–अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से भोज्य वस्तु के चार भेद हैं। रोटी–भात आदि अशन है, दूध आदि पीने योग्य पदार्थ पान है, लड्डू आदि खाद्य है और इलायची आदि स्वादिष्ट वस्तुएँ स्वाद्य हैं। तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे के भेद से रस के पाँच भेद हैं। नमक भोजन में सबसे अधिक रुचिकर होने से इसका अन्तर्भाव मधुर रस में ही हो जाता है। ये लोक में विद्यमान रस चाहे मन को रुचिकर होने से इष्ट या अरुचिकर होने से अनिष्ट हो उसमें आसक्ति भाव नहीं रहता यह साधुओं का रसनेंद्रिय जय व्रत है। कहा भी है अशन आदि से चार भेद रूप, पंच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, पर के द्वारा दिए गए रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लंपटता का नहीं होना जिह्वा इंद्रिय निरोध व्रत है।[1] ऐसे रसनेंद्रियजयी निर्ग्रंथ साधु, साधुओं में शिरोमणि हैं।

---

1. असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी॥20॥ मूलाचार

:35:

सुह-दुह-बेविह-गंधा, जो जोगी घाणिंदियं खलु जयदि।
सो रायेहिं पुज्जो, साहुसु चंदोव्व णादव्वो॥३५॥

अन्वयार्थः– **जो**–जो **जोगी**–योगी, निर्ग्रंथ मुनि **सुह-दुह बेविह गंधा**–सुगंध-दुर्गंध रूप दो प्रकार के **घाणिंदियं**–घ्राणेन्द्रिय विषयों को **जयदि**–जीतता है **सो**–वह **रायेहिं**–राजाओं में **पुज्जो**–पूज्य है एवं **खलु**–निश्चय ही **साहुसु**–साधुओं के मध्य **चंदोव्व**–चंद्रमा के समान **णादव्वो**–जानना चाहिए।

वास वासना का कारण है अतः वास दुखदायी है,
निर्ग्रंथों ने दुख कारण की जड से करी सफायी है।
घ्राणेन्द्रिय को जीत साधुगण जगत्पूज्य गुण के सिंधु,
ऐसे सोहें मुनिगण सम्मुख नभमण्डल में ज्यों इन्दु॥

भावार्थः–सुरभि आदि गुण को गन्ध कहते हैं। जो सुगन्धित द्रव्य हैं वे अपनी आत्मा के प्रदेशों में आह्लादन रूप सुख के निमित्त हैं। इनसे विपरीत दुर्गंध आत्म प्रदेशों में पीड़ा के निमित्त होने से दुःख रूप हैं। जो योगी यह अच्छी है बुरी है, इनमें राग-द्वेष नहीं करता, अनुराग या ग्लानि का भाव नहीं करता वह योगी निश्चय से घ्राणेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् घ्राणिंद्रिय-जयी कहलाता है। कहा भी है जीव और अजीव स्वरूप सुख और दुःख रूप प्राकृतिक तथा पर-निमित्तक गन्ध में जो राग-द्वेष को नहीं करता है वह मुनिराज का घ्राणेन्द्रियजय व्रत है।[1] इनका पालन करने वाले मुनि राजाओं के द्वारा पूजे जाते हैं। उन्हें साधुओं में चन्द्रमा के समान जानना चाहिए।

---

1. पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स॥19॥ -मूलाचार

36

पणविह-वण्णा भणिदा, लोयम्मि णेगविहा वि मण्णंते।
अक्खिंदियस्स जेत्तं, वंदे णिग्गंथ-थुदि-जोग्गं॥३६॥

अन्वयार्थः– **लोयम्मि**-लोक में **पणविह वण्णा**-वर्ण पाँच प्रकार के **भणिदा**-कहे गये हैं और **णेगविहा**-अनेक विध **वि**-भी **मण्णंते**-माने जाते हैं उन **अक्खिंदियस्स जेत्तं**-नेत्रेन्द्रिय के जीतने वाले **णिग्गंथ-थुदि-जोग्गं**-स्तुति योग्य, निर्ग्रन्थ मुनि को **वंदे**-मैं वंदन करता हूँ।

जग में आकर्षित करने का प्रबल हेतु लोचन मानो,
वर्णातीत दशा पाने में नयन विषय बाधक जानो।
पंच प्रकार नेत्र विषयों के जेता समकित धारी हैं,
ऐसे उन निर्ग्रंथ गुरु को शत-शत ढोक हमारी है॥

भावार्थः–जो देखा जाता है वह वर्ण है। वे वर्ण पाँच प्रकार के कहे जाते हैं–लाल, पीला, नीला, काला, सफेद। पुनः इन्हीं के माध्यम से कई रंगों की उत्पत्ति होती है। अतः ये वर्ण लोक में अनेक प्रकार के भी माने जाते हैं। यह सुंदर है, यह असुंदर है इस प्रकार नेत्रेंद्रिय के विषयों में राग-द्वेष का परिहार करना चक्षु-इंद्रिय जय व्रत है। आचार्य महाराज कहते हैं सचेतन और अचेतन पदार्थों के क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों में मुनि के जो राग-द्वेष आदि संग का त्याग है वह चक्षुनिरोध व्रत होता है।[1] ऐसे चक्षु इंद्रिय के जेता, स्तुति के योग्य निर्ग्रंथ मुनि की वंदना करता हूँ।

---

1. सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो॥17॥ –मूलाचार

37

कर्णिंणदियस्स विसया, सत्तविहा णेगविहा वा होंति हु।
जे जयंति ते विसया, णिग्गंथा सुरपुज्जा होंति॥३७॥

अन्वयार्थः- कर्णिंणदियस्स विसया-कर्णेन्द्रिय के विषय **सत्तविहा**-सात प्रकार के **वा**-अथवा **णेग विहा**-अनेक विध **होंति**-होते हैं **जे**-जो मुनि **ते विसया**-उन कर्णेन्द्रिय के विषयों को **जयंति**-जीतते हैं वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **सुरपुज्जा**-देवताओं द्वारा पूज्य **होंति**-होते हैं।

सप्त भेद अथवा अनेक विध कर्णेन्द्रिय के विषय महान्,
इन विषयों में अनुरंजित जन करता आत्म गुणों की हान्।
कर्णेन्द्रिय के जेता भगवन् स्तुति के अधिकारी हैं,
सुर पूजित निर्ग्रंथ गुरु को शत-शत ढोक हमारी है॥

भावार्थः-''सा, रे, ग, म, प, धा, नि, सा'' इस प्रकार कर्णेन्द्रिय के सात विषय कहे गए हैं। अथवा इनसे उत्पन्न अनेक प्रकार के भी होते हैं। इन विषयों को जो जीतते हैं अर्थात् इनमें राग-द्वेष नहीं करते यह मुनियों का कर्णेन्द्रिय-जय व्रत है। आचार्य महाराज प्रतिपादित करते हैं षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्द-ये सभी रागादि के निमित्त हैं। इनका नहीं करना कर्णेन्द्रिय-निरोध व्रत है।[1] ऐसे व्रत के पालन करने वाले निर्ग्रंथ मुनिराज देवों के द्वारा पूज्य होते हैं।

---

1. सड्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥18॥ -मूलाचार

38

समदाइ-सडकज्जाणि, कुव्वंति विसयकसाय-चागत्थं।
सडावस्सगपालगा, णिग्गंथा लोगपालगा हु॥३८॥

अन्वयार्थः– **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ मुनि **समदाइ-सडकज्जाणि**–समता आदि षडावश्यक कार्य **विसयकसाय-चागत्थं**–विषय और कषाय के त्याग के लिए **कुव्वंति**–करते हैं, ऐसे **सडावस्सगपालगा**–षडावश्यक को पालन करने वाले मुनि **हु**–ही **लोगपालगा**–संसार का पालन करने वाले हैं।

संयम की निर्मल अग्नि में कर्म बना ईंधन डाले,
विषय कषायों को तजने समतादि आवश्यक पालें।
समताधारी हे योगीश्वर हे इस जग के पालनहार,
हे यतियों में श्रेष्ठ योगिजन नमन करो मेरा स्वीकार॥

भावार्थः–अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। जो क्रियाएँ कर्मों के उन्मूलन में समर्थ हों वे आवश्यक कहलाती हैं। अथवा जो कषाय रागद्वेषादि के वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवश का जो आचरण है वह आवश्यक है।[1] समता या सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग–ये 6 आवश्यक होते हैं।[2] विषय-कषाय के त्याग के लिए इन आवश्यकों को मुनि करते हैं। षडावश्यकों के पालन करने वाले निर्ग्रंथ मुनि लोक पालक लोक का पालन करने वाले हैं। जो रक्षक के समान अर्थचर हैं वे

---

1. ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं त्ति बोधव्वा। 515 –मू.आ.
2. समता थओ य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
   पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि॥220॥ –मू.आ.
3. अर्थचरा रक्षकसमाना लोकपालाः। –स.सि. 4.

लोकपाल कहलाते हैं[3] क्योंकि निर्ग्रंथ मुनि भव्य प्राणियों की पापों से, अशुभ से रक्षा करते हैं अत: लोक का पालन करने वाले लोकपाल हैं।

39

इट्ठाणिट्ठत्थेसुं, जीविय-लाह-संजोग-मित्तेसुं।
तदविवरियजुत्तेसु य, समजुदो णिग्गंथो पुज्जो॥३९॥

अन्वयार्थः– जो **इट्ठाणिट्ठत्थेसुं**-इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में **जीविय-लाह-संजोग-मित्तेसुं**-जीवन, लाभ, संयोग और मित्र में **य**-और **तदविवरिय जुत्तेसु**-उनके विपरीत में अर्थात् मरण, हानि, वियोग और शत्रु में **समजुदो**-समता युक्त हैं **णिग्गंथो**-वह निर्ग्रंथ मुनि **पुज्जो**-पूज्य कहे जाते हैं।

जो मुनि इष्टानिष्ट विषय में राग-द्वेष का त्याग करें,
नहीं हर्ष सुख संयोगों में नहि जीवन से राग करें।
इनके प्रतिपक्षी विषयों में खेद भाव को तजते हैं,
पूजनीय निर्ग्रंथ साधु वे समता गुण से सजते हैं॥

भावार्थः-अभिलषित मनोनुकूल स्वयं को अच्छे लगने वाले पदार्थ इष्ट हैं। अनभिलषित स्वयं को प्रतिकूल लगने वाले पदार्थ अनिष्ट पदार्थ हैं। जीवन, लाभ, संयोग व मित्र तथा उनके विपरीत अर्थात् मरण, अलाभ, वियोग व शत्रु। औदारिक आदि शरीर की स्थिति रहना जीवन है। प्राणियों के प्राण वियोग लक्षण मृत्यु-मरण है। अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति लाभ है और अभिलषित वस्तु आदि की प्राप्ति नहीं होना अलाभ है। इष्टादि पदार्थ का संबंध हो जाना संयोग है और इष्टादि पदार्थ का पृथक् हो जाना वियोग है अर्थात् इष्ट का संयोग या वियोग हो जाना एवं अनिष्ट का संयोग या वियोग हो जाना संयोग-वियोग है। ऐसे इष्टानिष्ट पदार्थों में, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु में समभाव का होना मुनियों का समता नामक गुण है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी ने भी

निर्देशित किया है कि शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मृतिका में रागद्वेष के अभाव को समता कहते हैं।[1] ऐसे समता आवश्यक से युक्त निर्ग्रंथ सदैव पूज्य हैं।

---

1. सत्तु-मित्त-मणि-पाहाण-सुवण्ण-मट्टियासु रागदेसाभावादो समदा णाम।
-ध.पु. 8

40

तित्थयरमेगस्स जे, वंदण-किरियं जोगेण कुव्वंति।
सव्व-पाव-विणासगा, तां धारगा हु वंदणीया॥४०॥

अन्वयार्थः– **जे**-जो मुनि **जोगेण**-मन, वचन और काय इन त्रियोग से **तित्थयर मेगस्स** एक तीर्थंकर विशेष की गुणानुवाद रूप **वंदण-किरियं**-वंदना नामक आवश्यक क्रिया को **कुव्वंति**-करते हैं ऐसे **सव्व-पाव-विणासगा**-सर्व पापों का विनाश करने वाले, तथा **तां**-उस वंदना क्रिया को **धारगा**-धारण करने वाले निर्ग्रंथ साधु **हु**-निश्चय ही **वंदणीया**-वंदन करने योग्य हैं।

पृथक-पृथक तीर्थंकर की स्तुति पृथक-पृथक गुणगान किया,
षट् आवश्यक मूलगुणों में क्रिया वंदना नाम दिया।
अघ हारक यति जो त्रियोग से आवश्यक को धरते हैं,
वंदन आवश्यक धारी को हम भी वंदन करते हैं॥

भावार्थः-श्री ऋषभदेव को आदि लेकर वर्द्धमान स्वामी पर्यंत किन्हीं एक तीर्थंकर की तीनों योगों मन, वचन व काय से वंदन क्रिया अर्थात् नमस्कारादि करना वंदना है, वंदना करने योग्य गुरुओं आदि के गुणों का स्मरण करना मनोवंदना है, वचनों के द्वारा उनके गुणों का महत्त्व प्रगट करना यह वचन वंदना है और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह काय वंदना है।[1] कषाय पाहुड़ में उल्लिखित है कि एक तीर्थंकर को नमस्कार करना वंदना है।[2] ऐसी वंदन क्रिया को धारण करने वाले, सर्व पापों का विनाश करने वाले वे निर्ग्रंथ साधु सदा ही वंदनीय अर्थात् वंदन के योग्य हैं।

---

1. वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवंदना। वाचातद्गुणमाहात्म्यप्रकाशनपरवचनोच्चारणं, कायेन वंदना प्रदक्षिणीकरणं कृताननतिश्च। –भ.आ./वि.
2. एयरस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम। –क.पा.1/1–1

41

चउवीस-तित्थयराण, गुणाणुकित्तिं करेज्ज सद्धाए।
थुदिकरणं थुदी विंति, थुदिकम्मजुदं मुणिं वंदे॥४१॥

अन्वयार्थः– **चउवीस-तित्थयराण**–चौबीस तीर्थंकरों का **सद्धाए**–श्रद्धा से **गुणाणुकित्तिं**–गुणों का कीर्तन **करेज्ज**–करना चाहिए, इस प्रकार **थुदिकरणं**–स्तुति करने को **थुदी**–'स्तुति' नामक आवश्यक क्रिया **विंति**–कहते हैं, उन **थुदिकम्मजुदं**–स्तुति क्रिया से युक्त अथवा करने वाले **मुणिं**–निर्ग्रंथ मुनि को **वंदे**–वंदन करता हूँ।

श्रद्धा सहित चतुर्विंशति तीर्थंकर के गुणगाने को,
स्तुति आवश्यक कहते हैं भव से पार लगाए वो।
स्तुति आवश्यक धारी निर्ग्रंथ गुरु को वंदन है,
वंदन करने से भव-भव का मिटे स्वयं ही क्रंदन है॥

भावार्थः–तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करना चतुर्विंशति स्तव है।[1] तीर्थंकरों के असाधारण धर्मरूप गुणों का वर्णन करना गुणानुकीर्तन है। अर्थात् सभी प्रकार के मलों से रहित विमल परमात्मा का लक्षण करते हुए उनकी स्तुति करना जैसे हे प्रभु पहाड़ के समान कठोर कर्मों को आप नष्ट कर चुके हैं, आप देव, नर, असुरादि सभी से वंदित हैं, 100 इंद्र आपके चरणों में सदा नतमस्तक रहते हैं, आप धर्म तीर्थ के प्रवर्तक हैं, भव अंबुधि में डूबते हुए प्राणियों को आपके चरण कमल ही मात्र आलंबन हैं, आपने तत्त्व का स्वरूप पूरे विश्व को बतलाया है–इत्यादि प्रकार से अनेक–अनेक गुणों का कीर्तन करना गुणानुकीर्तन है। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन सदैव ही श्रद्धा से करना चाहिए। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना ही स्तुति आवश्यक कहा गया है। ऐसे स्तुति कर्म से युक्त मुनि की सदा वंदना करता हूँ।

---

1. चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थंकरगुणानुकीर्त्तनम्। –रा.वा.

42

अण्णाण-पमादेहिं, मूलुत्तरगुणाण सव्वदोसा य।
जेण खलु होंति मिच्छा, पडिक्कमो गुणो साहूणं॥४२॥

अन्वयार्थः– अण्णाण-पमादेहिं य-अज्ञान और प्रमाद के कारण लगे **मूलुत्तरगुणाण**-मूलगुण और उत्तरगुण के **सव्व दोसा**-सभी दोष **जेण**-जिसके द्वारा **मिच्छा होंति**-मिथ्या होते हैं वह **खलु**-निश्चय से **साहूणं**-साधुओं का **पडिक्कमो गुणो**-प्रतिक्रमण गुण है।

अज्ञानी बन आलस वश यदि कोई दोष हुए मुझसे,
मूलगुणों और उत्तरगुण में भी अतिचार लगे मुझसे।
उन दोषों के शोधन हेतु प्रतिक्रमण इक साधन है,
आवश्यक गुण निर्ग्रंथों का मोक्ष मार्ग का वाहन है॥

भावार्थः-ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहते हैं तथा कषाय से सहित अवस्था प्रमाद है[1] अथवा क्रियाओं में आदर भाव का न होना प्रमाद है।[2] ऐसे अज्ञान या प्रमाद से मूलगुण अथवा उत्तर गुणों में जो भी दोष लगे हों उन दोषों को जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, वह साधुओं का प्रतिक्रमण गुण है। कहा भी है प्रमाद के द्वारा किये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।[1]

---

1. प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं। -गो.जी./जी.प्र. 367

43

सावज्ज-पाववड्ढग-वत्थू खोहस्स कारणं चित्ते।
चागं पच्चक्खाणं, तं संयममित्ता कुव्वंति॥४३॥

अन्वयार्थः– **सावज्ज-पाववड्ढग-वत्थू**–सावद्य या हिंसात्मक और पाप वर्धक वस्तु **चित्ते**–चित्त में **खोहस्स कारणं**–क्षोभ का कारण होती है **तं**–उस सावद्य पापवर्धक वस्तु को **चागं**–त्यागना **पच्चक्खाणं**–प्रत्याख्यान कहलाता है जिसको **संयममित्ता**–संयम के मित्र निर्ग्रंथ मुनि **कुव्वंति**–करते हैं।

जो हिंसा की जननी अघ का वर्धन करने वाली है,
ऐसी वस्तु मन की निर्मलता को हरने वाली है।
त्याग पापकारक वस्तु का प्रत्याख्यान कहाता है,
संयम सखा यति निर्ग्रंथों को यह सदा सुहाता है॥

भावार्थः–हिंसात्मक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति सावद्य है। ऐसी सावद्य, पाप वर्द्धक–पाप को बढ़ाने वाली वस्तु चित्त में क्षोभ का कारण होती है। क्षोभ अर्थात् चित्त की निर्विकारता को नष्ट करती है। कहा भी है निर्विकार निश्चल चित्त की प्रवृत्ति का विनाशक जो चारित्र मोह है वह क्षोभ कहलाता है।[1] अतः चित्त में क्षोभ का कारण सावद्य पापवर्द्धक वस्तु जो पाप के आस्रव में कारणभूत हो उसका त्याग करना प्रत्याख्यान है। भविष्य में आने वाले तथा निकटवर्ती भविष्यकाल में आने वाले नाम, स्थापनादि छहों अयोग्य का मन, वचन, काय से वर्जन करना–इसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए।[2] यह प्रत्याख्यान संयम के मित्र अर्थात् निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराजों के द्वारा किया जाता है।

---

1. निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्यविनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते। –प्र.सा./ता.वृ. 7/9
2. णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले॥27॥ –मूला.

44

परदव्वाउ विरत्तो, सगदेहादो वि ममत्त-चागी य।
णियप्पम्मि संलीणो, णिग्गंथ-गुणो काउसग्गो॥४४॥

अन्वयार्थः– **परदव्वाउ**–पर द्रव्य से **विरत्तो**–विरक्त **सगदेहादो**–स्वदेह से **वि**–भी **ममत्त चागी**–ममत्व का त्यागी **य**–और **णियप्पम्मि**–निज आत्मा में **संलीणो**–लीन **णिग्गंथ-गुणो**–निर्ग्रंथ मुनि का एक गुण **काउसग्गो**–कायोत्सर्ग है।

पर द्रव्य को पर ही माने किंचित् ना अपना माने,
निज शरीर से भी ममता का त्याग करें निज पहचाने।
आत्मलीन निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि कायोत्सर्ग धारी हैं,
कायोत्सर्ग आवश्यक गुण युत गुरु वंदन अधिकारी हैं॥

भावार्थः–आत्म स्वभाव से अन्य जो कुछ सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक) अचित्त (धन, धान्यादिक) मिश्र (आभूषण सहित मनुष्यादि) होता है, वह सर्व परद्रव्य है।[1] जो ऐसे परद्रव्य से विरक्त हैं। मेरे पन का भाव ममत्व है। अपनी देह से भी ममत्व का त्यागी है एवं अपनी आत्मा में लीन हैं ऐसे निर्ग्रंथ मुनि का यह कायोत्सर्ग नामक गुण है। कहा भी है दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओं में आगम में कथित प्रमाण के द्वारा आगम में कथित काल में जिनेंद्रदेव के गुणों के चिन्तवन से रहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है।[1] यह निर्ग्रंथ साधुओं का गुण है।

---

1. आदसहावादण्णं सच्चित्तमिस्सियं हवइ।
   तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं॥17॥ मो.पा.
2. वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
   सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो॥29॥ –मूला.

45

अचेललोचाइ सेस-सत्त-गुणा दियंबरा हु पालंति।
जम्मि खेत्ते विहरंति, सुहिक्ख-कारगा णिग्गंथा॥४५॥

अन्वयार्थः- **दियंबरा**-निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु **अचेल लोचाइ सेस-सत्त-गुणा**-अचेलकत्व, केशलोंच आदि शेष सप्त गुणों को **हु**-निश्चय ही **पालंति**-पालते हैं **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ मुनि **जम्मि**-जिस **खेत्ते**-क्षेत्र में **विहरंति**-विचरण करते हैं **सुहिक्ख-कारगा**-वहाँ सुभिक्ष करने वाले होते हैं।

चेलरहित कचलोंच आदि जो सप्त शेष गुण बतलाये,
यथाजात निर्ग्रंथ साधु ही उसके धारक कहलाये।
ऐसे वे यतिराज दिगम्बर जहाँ भी विचरण करते हैं,
शुभ सुभिक्ष चहुँ ओर फैलता हर घर मंगल करते हैं॥

भावार्थः-निर्ग्रंथ दिगंबर मुनि अचेलकत्व, केशलोंच आदि सात शेष गुणों का पालन करते हैं। अचेलकत्व, केशलोंच, अस्नान, क्षितिशयन, अदंत धावन, स्थिति भोजन एवं एक भुक्ति ये सात शेष गुण कहलाते हैं। संपूर्ण वस्त्रादि का परित्याग करना आचेलक्य गुण है। हाथों से सिर व दाढ़ी मूछों के बाल उखाड़ना केशलोंच है। स्नानादि का त्याग करना अस्नान गुण है। पृथ्वी, फलक, पाषाण-शिला आदि पर सोना क्षितिशयन गुण है। दाँतों का घर्षण नहीं करना अदंत धावन है। पैरों के चार अंगुल अन्तराल से खड़े होकर भोजन करना स्थितिभोजन है। एक बेला में आहार ग्रहण करना एकभुक्त नामक मूलगुण है। ऐसे गुणों का पालन करने वाले मुनिराज जिस क्षेत्र में विहार करते हैं, वहाँ सुभिक्ष होता है। कहा भी है कि पद्मिनी नारी, राजहंस पक्षी व निर्ग्रंथ साधु जिस देश में भी विहार करते हैं उस देश में सदा सुभिक्ष रहता है।[1]

1. पद्मिनी राजहंसश्च, निर्ग्रंथाश्च तपोधनाः। यं देशमुपसर्पन्ति, सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत्॥ -य.चं.

46

वलकल-अजिण-जुडेहिं, रेसम-पत्त-कवास णिम्मिदाणि य।
णाणाविह-वत्थाइं, चागंति पुज्जा णिग्गंथा।।४६।।

अन्वयार्थः- **वलकल-अजिण-जुडेहिं**-वल्कल, अजिन, जूट से **य**-और **रेसम-पत्त कवास णिम्मिदाणि**-रेशम, पेड़ों के पत्ते, कपास-सूत से निर्मित **णाणाविह-वत्थाइं**-अनेक प्रकार के वस्त्र **पुज्जा**-पूज्य **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **चांगति**-त्याग देते हैं।

संसारी जन निज विकार को ढकने का उद्यम करता,
रेशम जूट कपास पत्र वल्कल आदिक से तन ढकता।
यथाजात निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिवर इनके त्यागी हैं,
बालकवत् सुंदर तनधारी निर्विकारी बडभागी हैं।।

भावार्थः-वलकल-वृक्षादि की छाल, अजिन-मृग, सिंहादि से उत्पन्न चर्म, जूट, रेशम, पेड़ों के पत्ते, कपासादि से निर्मित नाना प्रकार के वस्त्राभूषण के जो त्यागी हैं वे निर्ग्रंथ अर्थात् सभी प्रकार के विकार-भावों से रहित, अंतर-बाहिर परिग्रह से जो रहित हैं, इस लोक में पूज्य हैं। कहा भी है वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदिकों से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ वेष जगत् में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है।[1] ऐसे अचेलकत्व गुण के धारी निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज सदैव पूज्य हैं।

---

1. वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइण असंवरणं।
णिब्भूसण-णिग्गंथं-अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं।।30।। -मू.आ.

47

बे-ति-चउमासम्मि वा, लोचं कुव्वंति धीर-णिग्गंथा।
सत्तीइ सोववासं, सपडिक्कमं मुणी पालंति॥४७॥

अन्वयार्थ:-जो **धीर-णिग्गंथा**-धैर्यवान् निर्ग्रंथ साधु **बे-ति-चउमासम्मि वा**-दो-तीन या चार महीने में **सत्तीइ**-शक्ति से **सोववासं**-उपवास और **सपडिक्कमं**-प्रतिक्रमण सहित **लोचं**-केशलोंच **कुव्वंति**-करते हैं **मुणी**-वे मुनि **पालंति**-केशलोंच नामक मूलगुण को पालते हैं।

जो मुनि तीन चार अथवा दो माह में शक्ति के अनुसार,
निज हाथों से केशों का लुंचन करते हैं ममत निवार।
केशलोंच दिन निराहार रहकर जो प्रतिक्रम करते हैं,
केशलोंच गुणधारी उन मुनि के चरणों में नमते हैं॥

भावार्थ:-दो माह के उल्लंघन हो जाने पर अथवा पूर्ण होने पर, तीन माह के उल्लंघन हो जाने पर अथवा कुछ कम या ज्यादा होने पर तथा चार माह के पूर्ण हो जाने पर अथवा अपूर्ण रहने पर केशलोंच किया जाता है। दो महीने में किया गया लोंच अतिशय रूप आचरण को सूचित करने वाला होने से उत्कृष्ट कहलाता है, तीन महीने में किया गया मध्यम है और चार महीने में किया गया जघन्य है। इस प्रकार शक्ति के अनुसार दो, तीन या चार माह में सम्मूर्च्छन जीवों के परिहार के लिए अर्थात् जूं आदि उत्पन्न न हों इसीलिए, शरीर से ममत्व भाव, राग भाव दूर करने के लिए, महातपस्वी दिगंबर मुनिराज का हाथ से मस्तक या दाढ़ी-मूछों के केशों के उखाड़ना केशलोंच है।

कहा भी है प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो, तीन या चार मास में उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप लोच उपवास पूर्वक ही करना चाहिए।[1] केशलोंच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए पुनः उस दिन उपवास भी करना चाहिए।

---

1. वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो।।29।।-मूलाचार

48

लिप्पो जल्लमलेणं, देहो सेद-रयेण मलिणो होदि।
णो कुव्वंति ण्हाणं, ते णिग्गंथा वंदणीया॥४८॥

अन्वयार्थः– **देहो**–जिनकी देह **जल्लमलेणं**–जल्ल व मल से **लिप्पो**–लिप्त है **सेद-रयेण मलिणो**–पसीने और धूल से मलिन **होदि**–होती है फिर भी जो **ण्हाणं**–स्नान **णो**–नहीं **कुव्वंति**–करते हैं **ते**–वे **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ साधु **वंदणीया**–वंदन करने योग्य हैं।

जल्ल मलों से मलिन देह पर चित्त धवल नित रखते हैं,
धूल पसीने का भी किंचित् परिहार नहीं करते हैं।
रत्नत्रय से शुद्ध सदा ही काया जिनकी चंदन है,
अस्नान व्रतधारी उन निर्ग्रंथ गुरु को वंदन है॥

भावार्थः–पसीने के आश्रित अंगरज जल्ल है। जिह्वा, दाँत, नासिका, कर्णादिक से निकलने वाला मल, मल की श्रेणी में आता है। रोमकूप से निकलता हुआ पसीना स्वेद है। अर्थात् शरीर में खूब पसीना और धूलि आदि से शरीर लिप्त हो जाता है, अत्यंत मलिन हो जाता है किंतु फिर भी जीवों की रक्षादि के लिए चारित्र के अभिलाषी मुनिराज स्नानादि नहीं करते। यही उनका अस्नान नामक गुण है। कहा भी है स्नानादि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना मुनि के प्राणी संयम और इंद्रिय संयम पालन करने रूप, घोर गुणस्वरूप अस्नान व्रत होता है।[1] स्नानादि नहीं करते हुए भी वे व्रतों से, रत्नत्रय से सदा पवित्र हैं। वे निर्ग्रंथ दिगंबर साधु सदा वंदनीय यानि वंदना के योग्य हैं।

---

1. ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो॥31॥ –मूलाचार

49

रायवड्ढण-हेऊ य, दंतमंजणं णो कुव्वदि कया वि।
अदंतधावणं वयं, पालदि विरत्ति-वड्ढणत्थं॥४९॥

अन्वयार्थः– **य**-और (शब्द संयोजन के लिए है) निर्ग्रंथ साधु **रायवड्ढण-हेऊ**-राग वर्धन के हेतु **दंतमंजणं**-दंतमंजन **कयावि**-कभी भी **णो कुव्वदि**-नहीं करते हैं वे **अदंतधावणं वयं**-अदंतधावन व्रत को **विरत्ति-वड्ढणत्थं**-विरक्ति वर्धन के लिए **पालदि**-पालते हैं।

राग बढ़ाता भव संतति को राग सदा दुखदायी है,
रागी द्वेषी की इस जग में हर पल हुई हंसाई है।
राग सहित होकर प्रतिदिन जो दंत धवन नहीं करते हैं,
निज तनु से वैरागी साधु अदंतधवन व्रत धरते हैं॥

भावार्थः-जो राग को बढ़ाने वाला है, राग वर्द्धन का हेतु है ऐसे दंतमंजन को नहीं करना, दाँत के मल का शोधन नहीं करना, शरीर से विरक्ति या निःस्पृहता, जीव रक्षा आदि के लिए यह अदंत धावन व्रत निर्ग्रंथ साधुओं द्वारा किया जाता है। कहा भी है अंगुली, नख, दातोन और तृण विशेष के द्वारा, पत्थर या छाल आदि के द्वारा दांत के मल का शोधन नहीं करना यह संयम का रक्षा रूप अदन्तधावन व्रत है।[1] यह व्रत निर्ग्रंथ साधु संयम रक्षा व विरक्ति-वर्द्धन के लिए पालन करते हैं।

---

1. अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं।।33।। –मू.आ.

50

भवभोयदेहादो य, विरत्ता साहू सयंति भूमीइ।
किंचि वि सइयासणं च, णो कंखंति णिग्गंथा ते॥५०॥

अन्वयार्थः– **भव-भोयदेहादो य**-संसार-शरीर और भोगों से **विरत्ता साहू**-विरक्त निर्ग्रंथ साधु **भूमीइ**-भूमि पर **सयंति**-सोते हैं **च**-और **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **किंचि वि**-किञ्चित भी **सइयासणं**-शय्यासन, चटाई आदि को **णो**-नहीं **कंखंति**-चाहते हैं या इच्छा करते हैं।

जो तन को सुखकारक शय्या आसन पर नहीं सोना है,
फलक चिटाई पाटा तज बस धरती बना बिछौना है।
भव-तन-भोग विरक्त साधु निश्चय ही भू पर सोते हैं,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ साधु वे दुर्लभ दर्शन होते हैं॥

भावार्थः-संसार शरीर भोगों से विरक्त साधु भूमि पर शयन करते हैं। वे किंचित् भी शय्यासन या संस्तर की कांक्षा नहीं करते। जहाँ कुछ बिछाया न गया हो, जंतु रहित प्रदेश हो, असंयतजनों का आना-जाना न हो ऐसी भूमि पर इंद्रिय सुखों के परिहार व तप वृद्धि के लिए शयन करते हैं। कहा भी है अल्प भी संस्तर से रहित अथवा किंचित् मात्र संस्तर से सहित एकांत स्थान रूप प्रासुक भूमि प्रदेश में दंडाकर या धनुषाकार शयन करना अथवा एक पसवाड़े से सोना क्षितिशयन व्रत है।[1]

---

1. फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण॥32॥ -मूलाचार

51

सयायालेगभुत्तिं, ण बेभुत्तिं कयावि कुव्वंति ते।
इगभुत्तिवयं ताणं, कम्मक्खयस्स सक्को होदि॥५१॥

अन्वयार्थः– **ते**–वे निर्ग्रंथ साधु **सयायालेगभुत्तिं**–सदाकाल में एक बार भोजन **कुव्वंति**–करते हैं **कयावि**–कभी भी **बेभुत्तिं**–दो बार भोजन **ण**–नहीं करते हैं **ताणं**–उन निर्ग्रंथ मुनियों का **इगभुत्तिवयं**–एक भुक्ति व्रत **कम्मक्खयस्स**–कर्मक्षय करने में **सक्को**–समर्थ **होदि**–होता है।

कोई ऋतु हो कोई मौसम सदाकाल की है इक बात,
एक बार भोजन लेते हैं वो भी दिन में सूर्य प्रकाश।
एक भुक्तिव्रत धारी वह निर्ग्रंथ साधु कहलाते हैं,
अष्ट कर्म की राख बनाने में समर्थ हो जाते हैं॥

भावार्थः–निर्ग्रंथ मुनिराज सदा ही एक भुक्ति अर्थात् 8 पहर या 24 घंटे में एक बार ही आहार ग्रहण करते हैं रात्रि के चार पहर तो त्याज्य हैं ही किन्तु दिन में भी सूर्योदय के बाद तीन घड़ी व सूर्यास्त से पूर्व तीन घड़ी को छोड़कर शेषकाल के मध्य में आहार ग्रहण करते हैं। वे कभी भी दो भुक्ति नहीं करते। आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं कि उदय और अस्त के काल में से तीन-तीन घड़ी से रहित मध्य काल के एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना यह एक भक्त मूलगुण है।[1] निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराजों का यह एकभुक्ति व्रत कर्मों को क्षय करने में समर्थ होता है।

---

1. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु॥35॥ –मूलाचार

52

ठाणिच्चा खलु गहंति, णिग्गंथा अत्तिं एगवारं च।
उव्विट्ठा णो गहंति, वेरग्गज्झप्प-वड्ढत्थं॥५२॥

अन्वयार्थः–**णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ यथाजात मुनिराज **वेरग्गज्झप्प-वड्ढत्थं**–वैराग्य और अध्यात्म वर्धन के लिए **ठाणिच्चा**–खड़े होकर **एगवारं**–एक बार **खलु**–ही **अत्तिं**–आहार **गहंति**–ग्रहण करते हैं **च**–और **उव्विट्ठा**–बैठकर **णो गहंति**–ग्रहण नहीं करते।

एक बार कर लें आहार पर जंघा बल का ध्यान रहे,
खड़े-खड़े ही भोजन करते जब बैठे तो त्याग रहे।
ठिदि भोजन वैराग्य और अध्यात्म वृद्धि का कारण है,
इस व्रत का पालन कर साधु भव का करे विदारण हैं॥

भावार्थः–निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज दिन में एक बार खड़े होकर ही आहार ग्रहण करते हैं। ''खड़े होकर'' कहने से समझ लेना चाहिए कि साधु न बैठकर न लेटकर, न तिरछे आदि रहकर ही ले सकते हैं। बल्कि दोनों पैरों में चार अंगुल अंतर से खड़े होकर ही आहार ग्रहण करते हैं। यही मुनियों का स्थिति भोजन व्रत है। कहा भी है दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन स्थान की भूमि में समान पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजली बनाकर भोजन करना स्थिति भोजन नामक व्रत है।[1] इस व्रत का पालन मुनि वैराग्य और अध्यात्म की वृद्धि के लिए करते हैं।

---

1. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥34॥ –मूलाचार

53

उत्तरगुणचउतीसा, उत्तरुत्तरभावस्स णिमित्तेण।
पालंति ते लहिज्जा, तित्थयर-चउतीसातिसयं॥५३॥

अन्वयार्थ:– जो निर्ग्रंथ साधु **उत्तरगुणचउतीसा**–चौंतीस उत्तरगुण **उत्तरुत्तरभावस्स**–उत्तरोत्तर भाववर्धन के **णिमित्तेण**–निमित्त से **पालंति**–पालते हैं **ते**–वे साधु **तित्थयर-चउतीसातिसयं**–तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशय को **लहिज्जा**–प्राप्त करते हैं।

प्रतिक्षण भाव विमल उज्ज्वल हो यही भावना रखते हैं,
उत्तर गुण चौंतीस पालने में नहिं किंचित् डरते हैं।
जो इन गुण को पालन करते वे साधु निश्चित ज्ञानी,
पाकर चौंतिस अतिशय फिर वे प्राप्त करें शिव रजधानी॥

भावार्थ:–जिसने संयम धारण किया है, उसको सामायिकादि और अनशनादि भी रहते हैं। अत: सामायिकादि और अनशनादि तप को उत्तरगुण बताया है।[1] 22 परीषह और 12 तप ये साधुओं के चौंतीस उत्तर गुण कहलाते हैं। साधुओं के गुणों के 84 लाख भेद भी हैं। पाँच पाप, चार कषाय, जुगुप्सा, भय, रति, अरति ये 13, मन, वचन, काय की दुष्टता 3, मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनत्व, अज्ञान, पाँच इंद्रियों का निग्रह इन 21 दोषों का त्याग 21 गुण हैं। ये 21 (गुण) x 4 (अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार) x पृथ्वी आदि 100 जीव समास x 10 शील विराधना x 10 आलोचना के दोष x 10 धर्म = 84,00,000 उत्तर गुण होते हैं। निर्ग्रंथ साधु इन उत्तर गुणों का पालन उत्तरोत्तर भाव वर्धन के लिए करते हैं।

---

1. प्रगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च।। –भ.आ./वि.

इनके पालन से तीर्थंकरों के 34 अतिशय को प्राप्त करते हैं। 10 जन्म के, 10 केवलज्ञान के व 14 देवकृत अतिशय। अतिशय सुंदर रूप, सुगंधित तन, स्वेद रहितता, मल रहित निर्मल शरीर, प्रिय हित वचन, अतुल्य बल, श्वेत रुधिर, समचतुरस्त्र संस्थान, 1008 शुभ लक्षणों का धारण, वज्रवृषभनाराच संहनन ये जन्म के 10 अतिशय हैं।

अपने पास से चारों दिशाओं में 100 योजन तक सुभिक्षता, आकाश गमन, हिंसा का अभाव, कवलाहार का अभाव, उपसर्ग का अभाव, सभी की ओर मुखकर बैठना, छाया रहितता, निर्निमेष दृष्टि, विद्याओं की ईशता, नखादि का नहीं बढ़ना इस प्रकार ये केवलज्ञान के 10 अतिशय हैं।

संख्यात योजनों तक छः ऋतुओं के फल-फूल एक साथ, कंटकादि दूर करती हुई सुगंधित वायु, बैर त्याग मैत्रीभाव से रहते, भूमि दर्पणतल समान स्वच्छ व निर्मल, अर्द्धमागधी भाषा, दिशाओं का निर्मल होना, आकाश का निर्मल होना, भगवान के चरण कमल के नीचे कमल रचना होना, आकाश में जयजयकार होना, गंधोदक वृष्टि, भूमि का कण्टक रहित होना, सब सृष्टि में हर्षभाव, भगवान के आगे धर्म चक्र का चलना, अष्टमंगल द्रव्य ये देवकृत 14 अतिशय हैं।

इस प्रकार व्रतों का उत्तरगुणों का पालन करते हुए वे तीर्थंकरों के 34 अतिशयों को प्राप्त करते हैं अर्थात् स्वयं तीर्थंकर होते हैं।

54

धारंति बे विहा खलु, कम्मक्खयस्स तवा तवस्सी ते।
बावीसा परिसहा य, समदा-परिक्खेदुं जयंति॥५४॥

अन्वयार्थः– **ते**-वे निर्ग्रंथ **तवस्सी**-तपस्वी मुनि **खलु**-निश्चय ही **कम्मक्खयस्स**-कर्मों का क्षय करने के लिए **बेविहा**-अंतरंग और बाह्य दो प्रकार के **तवा**-तपों को **धारंति**-धारण करते हैं **य**-और **समदा-परिक्खेदुं**-समता की परीक्षा करने के लिए **बावीसा परिसहा**-बाईस परिषहों को **जयंति**-जीतते हैं।

यथाजात निर्ग्रन्थ तपस्वी कर्मों का क्षय करने को,
अंतरंग बहिरंग तपों को तपते हैं सुख वरने को।
दें समता की कठिन परीक्षा उत्तम फल को पाने को,
बाईस परिषह जेता बनते मोक्ष महल में जाने को॥

भावार्थः-कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है।[1] अथवा शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप है।[2] वे बाह्य, अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार के हैं। उसमें भी दोनों के 6-6 भेद हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश ये 6 प्रकार का बाह्य तप है।[3] प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है।[4] चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। (इंद्रियों की तृप्ति और प्रमाद को करने वाले भोजन को) भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है।

---

1. कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। -स.सि.
2. अनिगूहीतवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः। -स.सि.
3. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः। त.सू./9
4. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। त.सू./9

गृह आदि की संख्या के न्याय से अर्थात् गृह पात्र आदि नियम विशेष करके आहार संज्ञा को जीतना वृत्ति-परिसंख्यान तप है। मन-वचन-काय से रसविषयक गृद्धि का त्याग करना रसपरित्याग तप है। शरीर में सुख की अभिलाषा का त्याग करना कायक्लेश तप है। चित्त की व्याकुलता के कारण भूत स्त्री, पशु, नपुंसक आदि जहाँ नहीं हैं ऐसे विविक्त एकांत स्थान में सोना-बैठना यह विविक्त शय्यासन तप है। ये 6 प्रकार के बाह्य तप हैं।

प्रमाद जन्य दोष का परिहार करना प्रायश्चित तप है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप में अतिचार रूप जो अशुभ क्रियाएँ हैं, उनका त्याग करना विनय है। चारित्र के कारणों का अनुमनन करना वैयावृत्य है। अंग और पूर्व का सम्यक् पढ़ना स्वाध्याय है। काया से उत्सर्ग करना शरीर से ममत्व भाव त्याग करना व्युत्सर्ग है। शुभ विषय में एकाग्र चिंता का निरोध करना अर्थात् चित्त को स्थिर करना ध्यान है। ये 6 अंतरंग तप हैं। इस प्रकार 12 तपों की विवक्षा है।

मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं।[5] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इस प्रकार ये बाईस परीषह हैं।

उपवासों से, अंतराय से या रोगों से शरीर को पर्याप्त आहार न मिलने से उत्पन्न हुई क्षुधा की वेदना को समभाव से सहन करना क्षुधा परीषह जय है। गर्मी की तीव्रता से, ज्वरादि रोग से व अंतरायादि से जब कंठ सूख जाता है, तब वेदना होने पर भी जो जल की किंचित् भी इच्छा नहीं करते वह श्रमणों का तृषा परीषह जय है। रोग में,

---

5. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः। -त.सू. 9/8

शक्ति के क्षीण होने पर, शीतकाल में वह शीत दु:ख देती है, उसकी निवृत्ति की कांक्षा नहीं करते हैं, सम भावों से उसको जीतते हैं यही श्रमणों का शीत परीषह जय है। जो उष्ण काल में शीतल पदार्थों की कांक्षा नहीं करता है, आत्म स्वभाव चाहता है, यह श्रमणों का ऊष्ण परीषह जय है।

डाँस, मच्छर, कीड़ा आदि मुनि को सदा दु:ख देते हैं किन्तु वे देह की रक्षा की कांक्षा नहीं करते वह उनका दंशमशक परीषह जय है। जन्म के समय जैसा स्वरूप रहता है, वैसा निर्ग्रंथ बालक के समान सहज मुनि का रूप होता है और उनके वस्त्रों की आकांक्षा नहीं होती यह नग्नता परीषह जय है। संयम में अरति और असंयम में रति भावों का ना होना ''अरति-रति परीषह जय है। स्त्रियों में रागोत्पन्न कुभावों को जो जीतता है तथा स्त्री भोगों की कांक्षा नहीं करता वह स्त्रीपरीषह जय है। जो सदा पैरों से चलते हैं, रोग व खेद से संयुक्त होते हुए भी जीवन पर्यंत गमन करते हैं वह चर्या परीषह जय है।

गृहस्थादि से पृथक्, एकांतस्थान में, ध्यान में, योग-साधना में पद्मासनादि से बैठना निषद्या परीषह जय है। धर्म साधना करते हुए शय्या के निमित्त से कष्ट को समता भाव से सहन करना वह शय्या परीषह जय है। क्रोधोत्पत्ति में कारण, दुष्टों के शब्दों व भावों को जो नित्य ही क्षमा करते हैं वह मुनि का क्रोध परीषह जय है। दुष्टों के द्वारा वध-बंधनादि नाना प्रकार के दु:ख प्राप्त होने पर भी जो श्रमण उन्हें साम्य भाव से सहता है वह उनका वध-परीषह जय है।

क्षुधा रोग व दुख से पीड़ित होने पर जो मुनि याचना नहीं करते, वह उनका याचना परीषह जय है। अंतराय के उदय आने पर, यदि लाभ प्राप्त नहीं होता है तब भी मुनि लाभ की आकांक्षा नहीं करते यह उनका अलाभ परीषह जय है। कर्म के उदय से साता नहीं होने

पर देह में रोग विद्यमान रहते हैं तब मुनि नित्य समता-भाव रखते हैं वह उनका रोग परीषह जय है। तृण और काँटे के स्पर्श से हुए दुख की निवृत्ति की कांक्षा नहीं करते वह मुनि का तृण स्पर्श परीषह जय है। जल्ल या मल के कारणभूत देह में खुजली होती है उसे सहना मल परीषह जय है। पुरस्कार-सत्कार को प्राप्त करने की शक्ति होने पर भी उसकी आकांक्षा नहीं करते वह उसका सत्कार-पुरस्कार परीषह जय है। जो मुनि विशिष्ट ज्ञान से संयुक्त, नाना कला विद्याओं से युक्त होने पर भी गर्व नहीं करते वह प्रज्ञा परीषह जय है।

दिन-रात अध्ययन, पाठ-चिंतन करने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होने पर दुखी नहीं होते वह उनका अज्ञान परीषह जय है। उग्र तप करते हुए भी जो ऋद्धियों को प्राप्त नहीं कर पाते या तपादि का विशेष फल देखने में नहीं आता वह अदर्शन परीषह जय है।

इस प्रकार दो प्रकार के अंतरंग व बाह्य तप को निर्ग्रंथ मुनि कर्मक्षय के लिए करते हैं और बाईस परीषहों को समता की परीक्षा के लिए जीतते हैं।

55

छुहवेयणी कम्मस्स, तिव्वुदीरणाए छुहा पज्जेदि।
सो ण कंखदि भोयणं, असणचागतवो साहूणं॥५५॥

अन्वयार्थः– **छुहवेयणी कम्मस्स**–क्षुधावेदनीय कर्म की **तिव्वुदीरणाए**–तीव्र उदीरणा से **छुहा**–क्षुधा **पज्जेदि**–उत्पन्न होती है, फिर भी **सो**–वह निर्ग्रन्थ साधु **भोयणं**–भोजन की **ण कंखदि**–आकांक्षा नहीं करता है ऐसा **साहूणं**–निर्ग्रंथ साधुओं का **असणचागतवो**–असन त्याग तप कहलाता है।

क्षुधा वेदनी कर्म महा है जब यह कर्म उदय आवे,
व्याकुल कर दे मानव चित को क्षुधा न सहने में आवे।
उस क्षण में भी भोजन की जो इच्छा तनिक न करते हैं,
यथाजात निर्ग्रंथ साधु वे अनशन तप को धरते हैं॥

भावार्थः–उदीरणा नाम अपक्वपाचन का है।[1] दीर्घकाल पीछे उदय आने योग्य अग्रिम निषेकों को अपकर्षण करके अल्प स्थिति वाले अधस्तन निषेकों में या उदयावली में देकर, उदय मुख रूप से उनका अनुभव कर लेने पर वह कर्मस्कन्ध कर्म रूप को छोड़कर अन्य पुद्गल रूप से परिणमन कर जाता है। यहाँ उदय न कहकर उदीरणा कहा है क्योंकि उदीरणा से तीव्र परिणाम होते हैं। आचार्य श्री अकलंक स्वामी ने लिखा है कि बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से कषायों की उदीरणा होने पर अत्यन्त प्रवृद्ध परिणामों को तीव्र कहते हैं।[2] इसके विपरीत केवल अनुदीर्ण प्रत्यय (उदय) के सान्निध्य से होने वाले परिणाम मन्द हैं।

---

1. अपक्वपाचणमुदीरणा –ध. 15/43/7
2. बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामः तीवनात् स्थूलभावात् तीव्र इत्युच्यते। रा.वा. 6/6/1–2

अतः क्षुधा वेदनीय कर्म की तीव्र उदीरणा से क्षुधा उत्पन्न होती है फिर भी साधु उसकी आकांक्षा नहीं करते यह उनका अशन त्याग तप है। मंत्र साधनादि दृष्ट फल की अपेक्षा के बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है।[3] अथवा कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से भोजन का त्याग करने को अनशन तप कहते हैं। यही साधुओं का अशन त्याग या अनशन तप कहा जाता है।

3. यत्किंचद् दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। -रा. वा. 19/19

56

संजम-वड्ढण-हेऊ, अप्पभोयणं कुव्वदि णिग्गंथो।
ऊणोयरतवो तस्स, कम्मक्खय-कारणं होहिदि॥५६॥

अन्वयार्थ:–**णिग्गंथो**-निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु **संजम- वड्ढण-हेऊ**-संयम के वर्धन के हेतु या कारण **अप्प-भोयणं**-अल्प भोजन **कुव्वदि**-करते हैं **तस्स**-उन निर्ग्रंथ साधु का **ऊणोयर तवो**-वह ऊनोदर तप **कम्मक्खयकारणं**-कर्मक्षय का कारण **होहिदि**-होता है।

सरस गरिष्ट अधिक भोजन जो नित प्रमाद को लाता है,
अरु प्रमाद ही जीवों के संयम में दोष लगाता है।
संयम वृद्धि हेतु जो मुनि अल्प उदर से रहते हैं,
उसको विधि क्षय करने वाला ऊनोदर तप कहते हैं॥

भावार्थ:-अल्प भोजन को अर्थात् भूख से कम भोजन को ग्रहण करना ऊनोदर तप है। आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार विषयक अभिग्रह या प्रतिज्ञा करना अवमौदर्य तप है।[1] यह तप संयम की वृद्धि और कर्म क्षय के लिए किया जाता है। अधिक भोजन प्रमाद का हेतु है और प्रमाद संयम में दोष का हेतु है। अत: प्रमाद का परिहार कर संयम वृद्धि हेतु यह तप किया जाता है। कहा भी है तृप्ति करने वाला, दर्प उत्पन्न करने वाला ऐसा जो आहार उसका मन-वचन-काय रूप तीनों योगों से त्याग करना अवमौदर्य है।[2]

---

1. जो जस्स पयडिआहारो तत्तो ऊणाहारविसयअभिग्गहो अवमोदरियमिदि भणिदं होदि। -ध.13/5
2. योगत्रयेण तृप्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृति: अवमौदर्य। -भ.आ. /वि. 6/32

यह तप, निर्ग्रंथ साधुओं के संयम वृद्धि व कर्म क्षय में निमित्त है, इसी के लिए तप किया जाता है कहा भी है संयम को जागृत रखने, दोषों को प्रशम करने, संतोष और स्वाध्यायादि की सुख पूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है।[3]

3. संजमप्रजागरदोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम्। –स.सि. 9/19

57

अत्तिचरिया-वित्तिं च, राग-हरेदुं संकुचिदं किच्चा।
कुव्वंति हु परिसंखं, सुतवं पालंति णिग्गंथा॥५७॥

अन्वयार्थः– **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु **अत्तिचरिया वित्तिं**–आहारचर्या वृत्ति को **संकुचिदं किच्चा**–संकुचित करके **च**–और **राग-हरेदुं**–राग को दूर करने के लिए **परिसंखं**–परिसंख्यान **कुव्वंति**–करते हैं, वे **हु**–निश्चय ही **सुतवं**–सम्यक् वृत्ति परिसंख्यान तप को **पालंति**–पालते हैं।

चर्या हेतु गमन करें तब नाना विध विधि ले लेते,
गृह गली भोजन मर्यादा कर वृत्ति को सीमित करते।
राग भाव मिटता है इससे ये सम्यक् उपकारी है,
वृत्ति परिसंख्यान के पालक यथाजात पद धारी हैं॥

भावार्थः–भोजन, भाजन, घर, मुहल्ला और दाता इनकी वृत्ति संज्ञा है। उस वृत्ति का परिसंख्यान अर्थात् ग्रहण करना वृत्ति परिसंख्यान है।[1] मैं आज एक वस्तु का ही भोजन करूँगा अथवा अमुक पान मात्र ही करूँगा आदि या भोजन रखने के या भोजन परोसने के बर्तन इनकी नाना प्रकार से विधि लेना अथवा मैं आज इतने ही घर तक जाऊँगा, इसी मौहल्ले में जाऊँगा, वृद्ध पुरुष या महिला पड़गाहे तो ही ठहरूँगा इत्यादि नियम लेकर आहार चर्या के लिए निकलता है वह उनका वृत्तिपरिसंख्यान तप है। कहा भी है गृहों का प्रमाण, भोजनदाता का विशेष, काँसे आदि पात्र का विशेष, मोठ, सत्तू आदि का विशेष, इनमें अनेक तरह के विकल्पकर भोजन ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप

---

1. भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम। -ध. 13

है।[1] यह तप निर्ग्रंथ दिगम्बर साधुओं के द्वारा राग को दूर करने के लिए किया जाता है अथवा यह तप आशा की निवृत्ति के लिए किया जाता है।[2]

---

1. गोयरपमाणदायगभायणणाणविधाण जं गण्णं।
   तह एसणस्स गहणं विविधस्स वृत्तिपरिसंखा।। 355 मू.आ.
2. वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। –स.सि. 9/19

58

खीरगुडतेलसप्पी-दहि-लवणं जहासत्ती चागिज्ज।
रसपरिचागं तवंति, पाणिंदिय-संजमट्ठं ते॥५८॥

अन्वयार्थः- **खीर गुडतेलसप्पी दहि-लवणं**-दूध, गुड, तेल, घी, दही और नमक को, **जहासत्ती**-यथाशक्ति **चागिज्ज**-त्यागना चाहिए, इस प्रकार **ते**-वे निर्ग्रंथ मुनि **पाणिंदिय-संजमट्ठं**-प्राणी संयम व इंद्रिय संयम के लिए **रसपरिचागं**-रस परित्याग तप को **तवंति**-तपते हैं।

रसनेन्द्रिय को बल देते भोजन में स्वाद बनाते हैं,
दूध दही घी तेल नमक गुड ये षट् रस कहलाते हैं।
इन्द्रिय प्राणी संयम हेतु मुनिवर इनका त्याग करें,
रसपरित्यागी तपधारी निज कर्म नशे शिव सौख्य वरें॥

भावार्थः-दूध, गुड़ (मीठा), तेल, घी, दही, नमक इनका यथाशक्ति अर्थात् शक्ति के अनुसार त्याग करना रसपरित्याग तप है। कहा भी है-दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और लवण इन रसों का जो परित्याग करना है और तिक्त, कटु, कषैला, अम्ल तथा मधुर इन पाँच प्रकार के रसों का त्याग करना है वह रस परित्याग है।[1] इस तप को निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज इंद्रिय संयम व प्राणी संयम के लिए करते हैं। क्योंकि जिह्वा या रसना इंद्रिय का निरोध हो जाने पर सब इंद्रियों का निरोध देखा जाता है और सब इंद्रियों का निरोध हो जाने पर जो परिग्रह का त्याग कर रागद्वेष का निरोध कर चुके हैं, उनकों प्राणी के असंयम का निरोध देखा जाता है।

---

1. खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायविलमधुररसाणं च जं चयणं।।352।। -मू. आ.

59

णिवसदि ठाणेयंते, सहन्तो सयणादीहिं कट्ठाणि।
विवित्तसइयासणं हु, रागद्देस-परिहरणट्ठं॥५९॥

अन्वयार्थः– जो मुनि **सयणादीहिं**-शयनादि के द्वारा उत्पन्न **कट्ठाणि**-कष्टों को **सहन्तो**-सहन करते हुए **ठाणेयंते**-एकांत स्थान में **णिवसदि**-निवास करते हैं, वह उनका **विवित्तसइयासणं**- विविक्त शय्यासन नामक तप है। वह **हु**-निश्चय से **रागद्देस-परिहरणट्ठं**-राग द्वेष के परिहार के लिए किया जाता है।

जो निर्ग्रंथ दिगंबर मुनि एकांतवास में रहते हैं,
चर्या आसन शयन जनित दुख साम्यभाव से सहते हैं।
सब कुछ सहते कहते कुछ ना राग द्वेष परिहारी हैं,
यथाजात मुद्राधारी ही शिव पद के अधिकारी हैं॥

भावार्थः-शयनादि से आशय यहाँ सोने, बैठने, चलने, ठहरने आदि क्रियाओं से है। निर्ग्रंथ मुनि इनके द्वारा हुए कष्टों को सहते हुए एकांत स्थान-जंतुओं की पीड़ा से रहित शून्य घर, श्मशान भूमि, गहन वन, निर्जन स्थानादि में राग और द्वेष का परिहार करने के लिए रहते हैं। क्योंकि जहाँ सभ्य-असभ्य जन ही नहीं होंगे तो वहाँ रागद्वेष कैसा ? यही मुनियों का विविक्त शय्यासन तप है। कहा भी है अप्रमादी मुनि सोने, बैठने व ठहरने में तिर्यंचनी, मनुष्य स्त्री, विकार सहित देवियाँ और गृहस्थों से सहित मकानों को छोड़ देते हैं।[1] ग्रामादि से दूर स्वाध्यायादि की वृद्धि व रागद्वेष को दूर करने हेतु एकांत में निवास करते हैं।

---

1. तेरिक्खिय माणुस्सिय सविगारियदेवि गेहि संसत्ते।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे।।357।। मू.आ.

60

जे जोगठाणवग्गह-अयणासण-सयणजणिदकट्ठाइं।
समभावेहिं सहंति कायकिलेसो सिवं पत्ता॥६०॥

अन्वयार्थः- **जे**-जो **जोगठाणवग्गह**-योग, स्थान अवग्रह **अयणासण**-अयन, आसन **सयण**-शयन **जणिद-कट्ठाइं**-जनित कष्टों को **समभावेहिं**-समभाव से **सहंति**-सहन करते हैं वह उनका **कायकिलेसो**-कायक्लेश तप है। इस तप को करने वाले निर्ग्रंथ मुनि **सिवंपत्ता**-मोक्ष प्राप्त करते हैं।

योगस्थान अवग्रह आसन, अयन शयन के कष्टों को,
मुनिवर सहते समभावों से नष्ट करें निज कर्मों को।
आगम के अनुकूल धीर मुनि काया को क्लेशित करते,
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ मुनि जो कायक्लेश तप को धरते॥

भावार्थः-योग अनेक प्रकार के होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सम्मुख खड़ा होना आतापन योग है, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठना वृक्षमूल योग है, शीतकाल में चौराहे पर नदी किनारे ध्यान लगाना शीत योग है।

स्थान-कायोत्सर्ग करना स्थान कहलाता है। जिसमें स्तंभादि का आश्रय लेना पड़े वह साधार, जिसमें संक्रमण पाया जाये उसको सविचार, जो निश्चय रूप से धारण किया जाये उसको ससन्निरोध, जिसमें संपूर्ण शरीर ढीला छोड़ दिया जाये वह विसृष्टांग जिसमें दोनों पैर समान रखे जायें वह समपाद; एक पैर से खड़ा होना एकपाद, दोनों बाहू ऊपर करके खड़े होना प्रसारित बाहू इस तरह स्थान के भी अनेक भेद हैं।

अवग्रह-अनेक प्रकार की बाधाओं को जीतना अवग्रह है। थूकने, खाँसने की बाधा, छींक व जंभाई को रोकना, खाज होने पर न

खुजाना, काँटादि लग जाने पर खिन्न न होना, फोड़ा-फुंसी आदि होने पर दु:खी न होना इत्यादि अवग्रह के अनेक भेद हैं।

अयन-कड़ी धूप वाले दिन में पूर्व से पश्चिम की ओर चलना प्रतिसूर्य है-सूर्य जब मस्तक पर चढ़ता है ऐसे समय में गमन करना उर्ध्वसूर्य है, सूर्य को दाएँ या बाएँ रखकर गमन करना तिर्यक् सूर्य है, अपने स्थान से जाकर बिना विश्रान्ति लिए स्वस्थान लौट आना गमनागमन है। इस तरह अयन के अनेक भेद हैं।

आसन-दण्डे के समान सीधा बैठना दण्डासन है। दोनों जंघाओं को दूरवर्ती रखकर बैठना वीरासन है। गो के बैठने के भांति बैठना गोशय्यासन है। हाथी की सूंड की तरह हाथ या पाँव को फैलाकर बैठना हस्तिसूंडासन है। समपर्यंकासन, असमपर्यंकासन, गोदोहन, उत्करिकासन, मकरमुखासन आदि आसन के भेद हैं।

शयन-शरीर को संकुचित करके सोना लगडशय्या है, ऊपर को मुख करके सोना उत्तानशय्या, नीचे को मुख करके सोना अवाक् शय्या है, शव की तरह निश्चेष्ट सोना शवशय्या है इत्यादि शयन के भेद हैं।

इस प्रकार योग, स्थान, अवग्रह, अयन, आसन, शयन आदि से जनित आगमानुकूल कष्टों को मुनि समभाव से सहन करते हैं वह निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराजों का कायक्लेश तप है। कहा भी है खड़े होना, कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना-यह कायक्लेश नामक तप है।[1] इस तप को करने से वे निर्ग्रंथ मुनि मोक्ष प्राप्त करते हैं।

---

1. ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो।।356।। -मूलाचार

61

पमादेणाण्णाणेण, जदि गहिदवयेसु दोसा जंति वा।
दोसाण णिविट्टीए, पायच्छित्तं मुणी कुव्वदि॥६१॥

अन्वयार्थः– **जदि**–यदि **गहिदवयेसु**–ग्रहण किये हुए व्रतों में **पमादेणाण्णाणेण वा**–प्रमाद या अज्ञान से **दोसा जंति**–दोष उत्पन्न होते हैं तो **मुणी**–निर्ग्रंथ मुनि **दोसाण**–उन दोषों की **णिविट्टीए**–निवृत्ति के लिए **पायच्छित्तं**–प्रायश्चित्त तप **कुव्वदि**–करते हैं।

देव शास्त्र गुरु सन्निधि पाकर ग्रहण करें व्रत तप धारी,
बन प्रमादी अज्ञान दशा में उनमें दोष हुआ भारी।
दोषों की शुद्धि की खातिर प्रायश्चित तप करते हैं,
ऐसे उन निर्ग्रंथ मुनि का मिलकर वंदन करते हैं॥

भावार्थः–यदि ग्रहण किए गए व्रतों में प्रमाद या अज्ञान से दोष उत्पन्न हुए हों तो उन दोषों की निवृत्ति के लिए मुनि प्रायश्चित करते हैं। दोषों की निवृत्ति, प्रक्षालन के पश्चात् चित्त शुद्ध हो जाता है। कहा भी है अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित तप है।[1] यह प्रथम अंतरंग प्रायश्चित्त तप मुनियों के द्वारा किया गया है।

---

1. पायच्छित्त त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयभावं।
पायच्छित्त पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु।।361।। मू.आ

62

दंसण-णाण-चरिय-तवुवयारभेयेण पणविहा विणया।
तवोऽयं मोक्खदारं, गुणाहार-विणयं कुव्वंति॥६२॥

अन्वयार्थः– दंसण-णाण-चरिय-तवुवयार भेयेण-दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और उपचार के भेद से **विणया**-विनय **पणविहा**-पाँच प्रकार की होती है, **तवोऽयं**-यह विनय नामक तप **मोक्ख-दारं**-मोक्ष का द्वार है उस, **गुणाहार-विणयं**-गुणों का आधार विनय तप को **कुव्वंति**-वे निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि करते हैं।

दर्शन ज्ञान चरित तप अरु उपचार पंच ये भेद महा,
विनय महागुण है मानव का विनय मुक्ति का द्वार कहा।
गुण आधार बना यह गुण तप की श्रेणी में आता है,
यथाजात निर्ग्रंथ दिगम्बर को यह सदा लुभाता है॥

भावार्थ:-दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप व उपचार के भेद से विनय पाँच प्रकार की होती है। सम्यग्दर्शन के अंगों का पालन, भक्ति पूजा आदि गुणों का धारण तथा शंकादि दोषों के त्याग को सम्यक्त्व विनय या दर्शन विनय कहते हैं।[1] बहुत आदर के साथ मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञान विनय है।[2] ज्ञान और दर्शन शाली पुरुष के पाँच प्रकार के दुश्चर चारित्र का वर्णन सुनकर रोमांचादि के द्वारा अन्तर्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अंजलि रखकर आदर प्रगट करना और उसका भाव-पूर्वक अनुष्ठान करना चारित्र विनय है।[3] यह बालक है, यह वृद्ध है, इस

---

1. उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा।
   संकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो॥114॥ भ.आ.
2. सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनय।
3. ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणानन्तरमुद्भिन्नरोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावतश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्यः।
   -रा.वा. 9/23/2-4

प्रकार का संकल्प छोड़कर तपस्वी जनों का जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वन्दनादि किया जाता है, उसे तप विनय जानना चाहिए।[1] आचार्य आदि के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार विनय है।[2] विनय कषाय और इंद्रियों को नम्र करता है[3] अतः गुणों का आधार है क्योंकि कषायों का शमन व इंद्रियों का दमन पुण्यास्रव का कारण है और पुण्य से सभी गुण खिंचकर चले आते हैं यह कर्म मल को नाश करता है[4] अतः मोक्ष का द्वार है।

---

1. बालो यं बुड्ढो यं संकप्प वज्जिऊण तवसीणं।
   जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि।।324।। -वसु.श्रा.
2. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचार-विनयः।
   परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः। -स.सि. 9/23
3. कषायेन्द्रियविनयनं विनयः। -चा.सा. 147/5
4. विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः। -भ.आ./वि./300/511

63

करेज्ज वइयावच्चं, दहविह-समण-णिग्गंथसाहूणं।
आरोग्ग-बोहि-हेऊ, तवोऽयं सिवकारणं होदि॥६३॥

अन्वयार्थः- **आरोग्ग-बोहि-हेऊ**-आरोग्य और बोधि के हेतु या कारण **दहविह-समण णिग्गंथ साहूणं**-दश प्रकार के श्रमण निर्ग्रन्थ साधुओं की **वइयावच्चं**-वैय्यावृत्ति **करेज्ज**-करनी चाहिए **तवोऽयं**-निर्ग्रन्थ मुनियों का यह तप **सिवकारणं**-मोक्ष का कारण **होदि**-होता है।

जो जन ग्लानभाव को तजकर वैय्यावृत्ति करते हैं,
उसका फल आरोग्य लाभ अरू रत्नत्रय को वरते हैं।
दश प्रकार निर्ग्रंथ गुरु की सेवा सुख का कारण है,
वैय्यावृत्ति तप तो सीधा मोक्ष महल का साधन है॥

भावार्थः-गुणों में अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषों के खेद का दूर करना, पाँव दबाना तथा और भी जितना कुछ उपकार करना है, वह वैय्यावृत्य कहा जाता है।[1] आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (शिष्य), ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैय्यावृत्ति के भेद से वैय्यावृत्य दस प्रकार का है।[2] यह वैय्यावृत्ति आरोग्य व बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र का हेतु है तथा शिव-मोक्ष का कारण है।

---

1. व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुण रागात्।
   वैय्यावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनां।। -र.क.श्रा./112
2. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्। -त.सू. 9/24

64

कुव्वंति सज्झायं खु, जिणागम-सुत्त-सिद्धंत-णायस्स।
मुणी थिरचित्त-हेऊ, किं ण होज्ज लोग-पुज्जा ते॥६४॥

अन्वयार्थ:– जो **मुणी**-निर्ग्रंथ मुनि **थिरचित्त-हेऊ**-स्थिर चित्त का हेतु या कारणभूत **जिणागम-सुत्त-सिद्धंत-णायस्स**-जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत आगम, सूत्र, सिद्धांत और न्याय का **सज्झायं**-स्वाध्याय **कुव्वंति**- करते हैं **ते**-वे निर्ग्रंथ साधु **खु**-निश्चय ही **लोग पुज्जा**-संसार में पूज्य **किं ण**-क्यों नहीं **होज्ज**- होवें अर्थात् अवश्य ही संसार में पूज्य होते हैं।

मन स्थिरता आती जिससे वह तप मुनिजन करते हैं,
आगम सूत्र न्याय ग्रंथों अरू सिद्धांतों को पढ़ते हैं।
वे यतियों में श्रेष्ठ साधुगण जगत्पूज्य कहलाते हैं,
निश्चय ही वे भवविनाश कर मुक्ति वधु को पाते हैं॥

भावार्थ:-आप्त के वचनादि से होने वाले पदार्थों के ज्ञान को आगम कहते हैं।[1] जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, संदेह से रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ़ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो उसे पण्डित जन सूत्र कहते हैं।[2] शास्त्र के अर्थ की संस्थिति किये गए अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। उसके सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण व अभ्युगम ये चार भेद हैं।[3] अथवा आगम, सिद्धांत ये एकार्थवाची हैं। जिसके द्वारा निश्चय किया जाये ऐसी नीतिक्रिया का करना न्याय कहा जाता है[4] अथवा प्रमाण से वस्तु

1. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। -प.मु. 3/99
2. अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढ़निर्णयम्।
   निर्दोषहेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥ -ध.पु. 9
3. तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः। 1/1 -न्या. सू.
4. नीयतेऽनेनेति हि नीतिक्रियाकरणं न्याय उच्यते। -न्या.वि.वृ.

की परीक्षा करने का नाम न्याय है।[1] चित्त की स्थिरता के लिए मुनिराज आगम, सूत्र, सिद्धांत और न्याय का अध्ययन करते हैं। यही स्वाध्याय है। पढ़े हुए ग्रंथ का पाठ करना, वाचन-व्याख्यान करना, पृच्छना-शास्त्रों के अर्थ को किसी अन्य से पूछना, अनुप्रेक्षा बारम्बार शास्त्र का मनन करना, धर्मकथा-त्रेसठ शलाका पुरुषों का चारित्र पढ़ना ये पाँच प्रकार का स्वाध्याय मुनि को देव वंदना मंगल सहित करना चाहिए[2] जो इस स्वाध्याय तप को करते हैं वे लोक-पूज्य क्यों नहीं होते अर्थात् अवश्य होते हैं।

---

1. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:। -न्या.द./भाष्य 1/1
2. परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहया य धम्मकहा।
   थुतिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ।।393 -मू.आ.

65

चत्ता बेपरिग्गहं, देहादो पुण्ण-ममत्तभावं च।
धारंति काउसग्गं, ते हु जीवमत्त-हिययारी॥६५॥

अन्वयार्थः– **बे परिग्गहं**–अंतरंग और बहिरंग दो प्रकार के परिग्रह को **च**–और **देहादो**–शरीर से **पुण्ण-ममत्तभावं**–पूर्ण ममत्व भाव को **चत्ता**–त्यागकर **काउसग्गं**–कायोत्सर्ग तप को **धारंति**– वे निर्ग्रंथ मुनि धारण करते हैं **ते**–वे निर्ग्रंथ **हु**–ही **जीवमत्त-हिययारी**–जीवमात्र के हितकारी हैं।

चौदह विध अंतर दस विध बहिरंग परिग्रह कहलाते,
इन सबका संग छोड़ दिगम्बर प्रतिक्षण आतम को ध्याते।
निज शरीर से ममत भाव तज कायोत्सर्ग लगाते हैं,
जीवमात्र हितकारी वे निर्ग्रंथ साधु कहलाते हैं॥

भावार्थः–दोनों प्रकार के अंतरंग और बहिरंग परिग्रह अर्थात् बाहर में क्षेत्र वास्तु आदि का और अभ्यंतर में कषाय आदि का त्याग करके देह से भी पूर्ण ममत्व भाव का त्याग करना कायोत्सर्ग तप है। कहा भी है परिमित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है[1] अथवा देह में ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।[2] ऐसे कायोत्सर्ग तप को करने वाले मुनिराज जीव मात्र के हितकारी हैं।

---

1. परिमितकालविषया शरीरे ममत्व निवृत्तिः कायोत्सर्गः। रा.वा. 9/24
2. देहे ममत्त्वनिरासः कायोत्सर्गः। –भ.आ./वि. 9/32

66

चित्तेकग्गो किच्चा, जो णाणम्मि सम्मभाव-जुत्तो हु।
झाणतवे संलीणं, तं णिग्गथं खलु वंदेऽहं॥६६॥

अन्वयार्थः– **जो**-जो निर्ग्रंथ मुनि **चित्तेकग्गो**-चित्त को एकाग्र **किच्चा**-करके **णाणम्मि**-ज्ञान में **हु**-ही **सम्म-भाव-जुत्तो**-समभाव से युक्त होते हैं **झाणतवे**-ध्यान तप में **संलीणं**-संलीन **तं**-उन **णिग्गंथं**-निर्ग्रंथ साधु को **खलु वंदेऽहं**-मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) निश्चय ही वंदन करता हूँ।

सांसारिक संकल्प विकल्पों में अब न चित्त ये घूमे,
अतः करें एकाग्र चित्त को ज्ञान भाव में ही झूले।
समता भाव सदा चितधारी रहे ध्यान तप में संलीन,
करूँ निर्ग्रंथ गुरु को वंदन होने को निज में तल्लीन॥

भावार्थः-''चित्त को एकाग्र करके'' यहाँ एकाग्र का ग्रहण व्यग्रता की निवृत्ति के लिए किया गया है, इस प्रकार एकाग्र चित कर ज्ञान में समता भाव से युक्त होते हैं यही ध्यान है। कहा भी है किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है।[1] ऐसे ध्यान में लीन निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराजों की सदा वंदना करता हूँ।

---

1. यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् अस्ति तद्ध्यानं। –पं.ध./उ./842

67

दहविह-खमाइधम्मो, अप्पसहाव-सिवसुक्खकारणं च।
मुणी धारंति णिच्चं, ते जुगपुरिसा हु जगपुज्जा।।६७।।

अन्वयार्थः- **दहविह**-दस प्रकार के **खमाइ धम्मो**-क्षमादि धर्म **अप्पसहाव**-आत्म स्वभाव **च**-और **सिवसुक्खकारणं**-शिव सुख का कारण हैं **मुणी**-जो मुनि **णिच्चं**-नित्य, उन्हें **धारंति**- धारते हैं **ते**-वे **जुगपुरिसा**-युग पुरुष **हु**-ही **जगपुज्ज**-जगत्पूज्य होते हैं।

उत्तम क्षमा आदि दस वृष ये आत्म शांति के कारण हैं,
शिव सुख को दर्शाने वाले भव का करें निवारण हैं।
जो मुनि निर्मल भाव युक्त हो सदा उन्हें धारण करते,
जगत्पूज्य निर्ग्रंथ गुरु के चरणों में हम नित रमते।।

भावार्थः-जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं वह धर्म कर्मों का विनाशक और समीचीन है।[1] उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार के धर्म प्रसिद्ध हैं। आत्म स्वभाव और शिव सुख की प्राप्ति इन्हीं धर्मों से होती है। जो इन दस धर्मों को धारण करते हैं वे युगपुरुष जगपूज्य होते हैं।

---

1. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।2।। -रत्न.श्रा.

68

कोहुप्पत्ति-हेऊण, संजोगे णो कुप्पंति किंचि जे।
धारंति खमाधम्मं, णिग्गंथा ते सया पुज्जा॥६८॥

अन्वयार्थः– **जे**-जो **कोहुप्पत्ति-हेऊण**-क्रोध की उत्पत्ति के हेतुओं के **संजोगे**-संयोग होने पर **किंचि**-किञ्चित भी **णो कुप्पंति**-क्रोधित नहीं होते हैं और **खमाधम्मं**-उत्तम क्षमा धर्म को **धारंति**-धारते हैं **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ मुनिराज **सया पुज्जा**-सदा पूज्य हैं।

अज्ञानी जन क्रोधित हो-होकर निज कर्म बढ़ाते हैं,
ज्ञानी उस क्षण शांत भाव रखकर निज कर्म जलाते हैं।
कारण सम्मुख होने पर भी किंचित् क्रोध न करते हैं,
ऐसे वे निर्ग्रंथ मुनीश्वर क्षमाधर्म को धरते हैं॥

भावार्थः-अपने और पर के उपघात या अनुपकार आदि करने के क्रूर परिणाम क्रोध है।[1] अथवा शांतात्मा से पृथग्भूत क्षमा से रहित भाव क्रोध है।[2] ऐसे क्रोध की उत्पत्ति के कारणों के मिलने पर भी किंचित् भी क्रोध नहीं करते हैं वह निर्ग्रंथ साधुओं का उत्तम क्षमा धर्म है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहिरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसके उत्तम क्षमा धर्म होता है।[3] ऐसे उत्तम क्षमा धर्म के धारी निर्ग्रंथ मुनिराज सदैव पूज्य हैं।

---

1. स्वपरोपघातनिरग्रुहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्षः क्रोधः। रा.वा. 8/9
2. शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष अक्षमारूपो भाव क्रोधः। –स.सा./ता.वृ.
3. कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
   ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति।। 75 बा.अनु.

69

किंचि-लद्धीइ जीवा, कुव्वंति कुलादीण गारवं जे।
जयंति माणदोसं हु, धण्णा समद्दव-णिग्गंथा॥६९॥

अन्वयार्थः– किंचि-लद्धीइ-किंचित् भी उपलब्धि से **जीवा**-जीव **कुलादीण गारवं**-कुल आदि का गर्व **कुव्वंति**-करते हैं, किन्तु **जे**-जो **माणदोसं**-ऐसी मान कषाय को **जयंति**-जीतते हैं, ऐसे **समद्दव**-मार्दव धर्म सहित **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **हु**-निश्चय ही **धण्णा**-धन्य हैं।

किंचित् वस्तु प्राप्तकर प्राणी अहंकार में फूला है,
कुल आदि का गर्व करे वह निज वैभव को भूला है।
मान त्याग मार्दव गुण धारा यथाजात निर्ग्रंथ हुए,
धन्य-धन्य ऐसे मुनिवर के दर्शन कर हम धन्य हुए॥

भावार्थः-किंचित् भी उपलब्धियों पर अथवा कुल आदि का गर्व करना मान है। जाति आदि आठ मदों से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न होना मान है।[1] कुल आदि से यहाँ आशय आठ मदों से है-ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप व शरीर ये आठ मद हैं।[2] निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज ऐसे मान दोष को जीतते हैं और मार्दव धर्म को धारण करते हैं। कहा भी है जो मनस्वी पुरुष, कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा सा भी घमंड नहीं करते, उसके मार्दव धर्म होता है।[3] मान को जीतने वाले मार्दव धर्म के धारी वे निर्ग्रंथ मुनिराज धन्य हैं।

---

1. जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् परा प्रणतिर्मानः। -रा.वा. 8/9/5
2. ज्ञानं पूजा कुलं जाति, बलमृद्धिं तपो वपुः।
   अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयः।। -र.श्रा.
3. कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
   जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।।72 -बा.अ.

70

कुडिलभावं चागिच्चु, तिजोगेहिं अज्जवं हु धारंति।
अज्जवं धम्म-मूलो, णिग्गंथ-सिवमग्गी साहू॥७०॥

अन्वयार्थः– **अज्जवं**-आर्जव या सरलता **धम्म-मूलो**-धर्म का मूल है **णिग्गंथ-सिवमग्गी- साहू**-निर्ग्रंथ शिवपथ के मार्गी साधु **कुडिलभावं**-कुटिलता के भाव को **चागिच्चु**-त्यागकर **हु**-निश्चय ही **तिजोगेहिं**-त्रियोग से **अज्जवं**-आर्जव धर्म को **धारंति**-धारण करते हैं।

सबसे सरल सरल होना है अतः धर्म का मूल कहा,
निर्ग्रंथों ने कुटिल भाव का त्याग किया शिव पंथ लहा।
मन-वच-काय त्रियोग लगाकर आर्जव गुण को धारा है,
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु के पद में नमन हमारा है॥

भावार्थः-आत्मा का कुटिल भाव माया है।[1] ऐसी कुटिलता का भाव, छल, माया का त्याग करना आर्जव धर्म है। सरलता का भाव आर्जव है-''ऋजोर्भावं आर्जवम्'' कहा है जो मनस्वी प्राणी कुटिल भाव व मायाचारी परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव धर्म होता है।[2] अथवा डोरी के दो छोर पकड़कर खींचने से वह सरल होती है उसी तरह मन में से कपट दूर करने पर वह सरल होता है अर्थात् मन की सरलता का नाम आर्जव है।[3] ऐसा आर्जव जो धर्म का मूल है वह मोक्षार्थी निर्ग्रंथ साधुओं के द्वारा तीनों योगों से अर्थात् मन, वचन, काय से धारण किया जाता है।

---

1. आत्मनः कुटिलभावो माया विकृतिः। -स.सि. 9/16
2. मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो।
   अज्जव-धम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण॥73 -बा.अ.
3. आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वकृताभावः आर्जवमित्युच्यते। 49/154 -भ.आ.

71

लोहो हु महापावं, लोयम्मि भमणस्स कारणं होदि।
मुंचित्ता लोहं तं, सोचं धारंति णिग्गंथा॥७१॥

अन्वयार्थः– **लोहो**–लोभ **महापावं**–महापाप है, यह **हु**–निश्चय ही **लोयम्मि**–संसार में **भमणस्स**–परिभ्रमण का **कारणं**–कारण **होदि**–होता है **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ साधु **तं**–उस **लोहं**–लोभ कषाय को **मुंचित्ता**–छोड़कर **सोचं**–शौच धर्म को **धारंति**–धारण करते हैं।

लोभ पाप का कारण इसने भव संतति बढ़ाई है,
लोभी मानव ने मानो दुःखों संग करी सगाई है।
इस कषाय के त्यागी मुनि शुचिता को मन में धरते हैं,
शौच धर्मधारी मुनिवर को हम नित वंदन करते हैं॥

भावार्थः–धन आदि की तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है।[1] यह लोभ निश्चय से महापाप है। इसे तो पाप का बाप भी कहा जाता है। यह लोक भ्रमण का कारण है। ऐसे लोभ का त्याग ही शौच धर्म है। कहा भी है प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना शौच धर्म है।[2] अथवा भोग, उपभोग, जीने व इन्द्रिय विषयों का, इन चारों प्रकार के लोभ के त्याग का नाम शौच धर्म है।[3] ऐसे शौच धर्म को निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज धारण करते हैं।

---

1. अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकांक्षावेशो लोभः। –रा.वा. 8/9/5
2. प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्। –स.सि. 9/6
3. परिभोगोपभोगत्वं, जीवितेन्द्रियभेदतः।
   चतुर्विधस्य लोभस्य निवृतिः शौचमुच्यते।।17 –त.सा.

72

मुंचिउ मोसंभावं, मणोवियारं सयलमोसवयणं।
णिच्चं वदंति सच्चं, ते हु लोयपाल-णिग्गंथा॥७२॥

अन्वयार्थ:- **सयलमोसवयणं**-समग्र असत्य वचन को, **मणोवियारं**-मन के विकार को **मोसंभावं**-असत्य भाव को **मुंचिउ**-छोड़कर **ते**-वे **लोयपाल-णिग्गंथा**-संसार को पालने वाले निर्ग्रन्थ मुनि **णिच्चं**-नित्य **हु**-ही **सच्चं**-सत्य **वदंति**-बोलते हैं अर्थात् सत्य धर्म का पालन करते हैं।

सदा सत्य संभाषण करते मृषा कभी भी ना बोलें,
चित्त लुभाती वाणी जिनकी मिश्री कानों में घोले।
चित्त विकृत ना होने देते असद् भाव भी तजते हैं,
सत्य धर्म के पालक ही इस जग का पालन करते हैं॥

भावार्थ:-हास्य, भीति, लोभ, क्रोध, द्वेषादि कारणों से बोले जाने वाले वचन, सब असत्य वचन हैं।[1] अथवा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचन समूह को असत् वचन कहते हैं।[2] परपीड़ाकारी वचन भी असत्य वचन हैं। ऐसे मन के विकार, असत्य वचन, असत्य भाव को छोड़कर सर्वहितकारी प्रिय सत्य वचनों को कहना सत्य धर्म है। कहा भी है जो मुनि दूसरों को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है उसके सत्य धर्म होता है।[3] ऐसे सत्य धर्म का पालन करने वाले निर्ग्रंथ मुनि लोकपाल अर्थात् संसार का पालन करने वाले हैं।

---

1. हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण।
   एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण।। 833 -भ.आ.
2. मिच्छत्तासंजमकसाय-पमादुट्ठावियो वयणकलापो। -ध.पु.12
3. परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
   जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मं हवे सच्चं।।74 -बा.अणु.

73

इंदिय-पाणि-संजमा, दियंबरा पालंति णिग्गंथा हु।
णियंता तिजोगाणं, सव्वसत्तेहिं पुज्ज-साहू जे॥७३॥

अन्वयार्थ:- **जे**-जो **णिग्गंथा दियंबरा**-निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि **तिजोगाणं**-मन-वचन-काय त्रियोग के **णियंता**-नियंत्रित करने वाले **इंदिय-पाणि-संजमा**-इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम को **हु**-निश्चय से **पालंति**-पालते हैं वे **सव्व सत्तेहिं**-सभी प्राणियों के द्वारा **पुज्ज-साहू**-पूज्य साधु हैं।

तीन योग संकोचन कर जो इन्द्रियों को वश में करते,
दया भाव धर प्राणी संयम का भी जो पालन करते।
संयम धारी तीन रतन की नित करते रखवाली हैं,
इस जग में निर्ग्रंथ साधु की महिमा बड़ी निराली है॥

भावार्थ:-इंद्रिय विषयों में प्रवृत्ति नहीं करना इंद्रिय संयम है और षट्काय जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। कहा है पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श, षड्ज आदि सात स्वर ये सब मन के 28 विषय हैं। इनका निरोध सो इंद्रिय संयम है और चौदह प्रकार के जीवों की रक्षा करना सो प्राणी संयम है।[1] ऐसे मन, वचन, काय को नियंत्रित करने वाले संयम का पालन करने वाले निर्ग्रंथ दिगंबर साधु सभी प्राणियों के द्वारा पूज्य हैं।

---

1. पंचरस पंचवण्ण दोगंधे अट्ठफास सत्तसरा।
मणसा चोद्दसजीवा इंदियपाणा च संजमो णेओ॥418 -मू.आ.

74

इंदियिच्छाणं सया, णिरोहभावं महातवो भणिदो।
धारंति सुणिग्गंथा, सयल-सुजणेहिमच्चणीया॥७४॥

अन्वयार्थः– **इंदियिच्छाणं**–इन्द्रियों या इच्छाओं का **णिरोह भावं**–निरोध भाव **महातवो**–महा तप या तप धर्म **भणिदो**–कहा गया है उन **सयल-सुजणेहिमच्चणीया**–सकल सज्जनों द्वारा अर्चनीय **सुणिग्गंथा**–सुनिर्ग्रंथ साधु उत्तम तप को **सया**–सदा **धारंति**–धारण करते हैं।

इच्छा की पूर्ति होती तो राग बली हो जाता है,
यदि इच्छा पूरण ना हो तो द्वेष खड़ा हो जाता है।
इसीलिए इच्छा निरोध तप की श्रेणी में आता है,
अक्ष निरोधी यथाजात मुनि तपधारी कहलाता है॥

भावार्थः–इंद्रिय या इच्छाओं का निरोध करना महातप है। तप शब्द का अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। अतएव रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिए इष्टानिष्ट इंद्रिय विषयों की आकांक्षा के निरोध का नाम तप है।[1] अथवा देह और इंद्रियों की विषय प्रवृत्ति को रोककर उन्हें तपा देने से ये तप कहे जाते हैं।[2] ऐसे महातप के धारी सम्यक् चर्या को पालन करने वाले निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनिराज सकल सज्जनों द्वारा अर्चनीय हैं।

---

1. तपो मनोऽक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात्।
   निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्॥ 7/2 –अन.ध.
2. देहस्येन्द्रिययाणां च तापं करोतीत्यनशनादि तप इत्युच्यते॥ 9/19 –रा.वा.

75

णिच्चं जे चागंति य, परवत्थुं वियाराइ-परभावं।
लहंति चागं चागी, ते णिग्गंथा वंदणीया॥७५॥

अन्वयार्थः– **जे**-जो **चागी**-त्यागी मुनि **णिच्चं**-नित्य ही **परवत्थुं**-परवस्तु को **वियाराइ परभावं**-विकारादि परभाव को **चागंति**-त्याग देते हैं **य**-और **चागं**-उत्तम त्याग धर्म को **लहंति**-प्राप्त करते हैं **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु **वंदणीया**-वंदन के योग्य हैं।

पर वस्तु परभावों में अज्ञानी मोद मनाता है,
पर को जो पर समझ त्याग दे वो ज्ञानी कहलाता है।
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु ही त्याग धर्म के धारी हैं,
गुणधारी अविकारी भगवन् वंदन के अधिकारी हैं॥

भावार्थः-आत्मा से भिन्न जो कुछ भी है वह परद्रव्य है व विकारादि परभाव हैं। परवस्तु व परभाव को जो छोड़ देते हैं वह उनका त्याग धर्म है। कहा भी है जो मिष्ट भोजन को, रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरण को तथा ममत्व भाव को उत्पन्न होने में निमित्त वसति को छोड़ देता है उस मुनि के त्याग धर्म होता है।[1] ऐसे उत्तम त्याग धर्म को धारण करने वाले निर्ग्रंथ दिगंबर साधु सदा वंदनीय हैं।

---

1. जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स॥140॥ -का.अ.

76

अप्पभावं विणा खलु, ण कोवि अप्पस्स विज्जदे लोए।
संजुत्तोऽकिंचणेण, णिग्गंथा सव्वदा पुज्जा।।७६।।

अन्वयार्थ:– **लोए**–लोक में **खलु**–निश्चय से **अप्पस्स**–आत्मा का **अप्पभावं**–आत्मभाव के **विणा**–बिना **को वि**–कोई भी **ण**–नहीं **विज्जदे**–रहता है ऐसे **अकिंचणेण**–आकिंचन धर्म से **संजुत्तो**–संयुक्त **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ मुनिराज **सव्वदा**–सर्वदा **पुज्जा**–पूज्य हैं।

आत्म भाव बिन इस आतम का दिखा न कुछ भी अपना है,
स्वयं स्वयं को निज में खोजो शेष जगत सब सपना है।
बिल्कुल खाली हो जाना ही आकिंचन्य कहाता है,
इस वृष से संयुक्त आतमा जगत्पूज्य हो जाता है॥

भावार्थ:–गृह, परिवार, मित्रादि, स्वदेह भी अपनी नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा के विकारी भाव, आत्मा से संश्लेषित कर्म भी अपने (आत्मा के) नहीं हैं। आत्मा का लोक में यदि कुछ है तो वह आत्म भाव, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार निर्ग्रंथ मुनिराज अकिंचन धर्म का पालन करते हैं। अकिंचन यानि किंचित् भी अपना नहीं। संपूर्ण परिग्रह का त्याग करना अकिंचन धर्म है।[1] अथवा जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख-दु:ख के देने वाले कर्म जनित निजभावों को रोककर निश्चिन्तता से आचरण करता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है।[2] इस धर्म से युक्त निर्ग्रंथ दिगंबर मुनि सर्वदा यानि तीनों कालों में पूज्य हैं।

---

1. अकिंचनतासकलग्रन्थत्याग: –भ.आ./वि. 46
2. होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहिदु सुहदुहदं।
णिद्वंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स–किंचण्णहं।।79 –बा.अणु.

77

बंभं तिलोयपुज्जं, दियंबरा धारंति सुहचित्तेण।
ते परमबंभयारी, देवेहि पुज्जा णिग्गंथा॥७७॥

अन्वयार्थः- तिलोयपुज्जं-तीनों लोकों में पूज्य **बंभं**-ब्रह्मचर्य को **दियंबरा**-यथाजात दिगम्बर मुनि **सुहचित्तेण**-विशुद्ध चित्त से **धारंति**-धारण करते हैं **ते**-वे **परमबंभयारी**-परम ब्रह्मचारी **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **देवेहि**-देवताओं के द्वारा **पुज्जा**-पूज्य होते हैं।

तीन लोक में पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत जो अपनाता है,
शीलवान नर इस भू पर देवों से पूजा जाता है।
शुद्ध चित्त के धारी वे मुनिराज परम ब्रह्मचारी हैं,
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु के चरणों में बलिहारी हैं॥

भावार्थः-जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सारे सुंदर अंगों को देखकर उनमें राग रूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है।[1] ऐसे तीनों लोकों (ऊर्ध्व लोक, अधो लोक, मध्य लोक) में पूज्य ब्रह्मचर्य को मुनिराज शुभ चित्त से धारण करते हैं। परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खंडित न हो सका वह परम ब्रह्म कहलाता है।[2] ऐसे परम ब्रह्मचारी निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज देवों के द्वारा सदा पूज्य हैं।

---

1. सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
   सो बंभचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरदि॥80॥ -बा.आ.
2. परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य।
   सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। द्र.सं.टी. 14/47

78

सस्सद-सव्वं दव्वं, दव्वदिट्ठीए ण णस्सरं को वि।
चिंतंति हु णिग्गंथा, णस्सरा पज्जदिट्ठीए॥७८॥

अन्वयार्थः– **दव्वदिट्ठीए**–द्रव्य दृष्टि से **सस्सद-सव्वं दव्वं**–सर्व द्रव्य शाश्वत हैं, **को वि**–कोई भी **णस्सरं**–नश्वर **ण**–नहीं है। **पज्जयदिट्ठीए**–पर्याय दृष्टि से **णस्सरं**–नश्वर है ऐसा **हु**–निश्चय **णिग्गंथा**–अनित्यानुप्रेक्षा के धारक निर्ग्रंथ मुनि **चिंतंति**–चिंतन करते हैं।

द्रव्यदृष्टि से सब द्रव्यों में नित्य ध्रौव्यता आती है,
पर्यायें क्षणभंगुर होती अतः नष्ट हो जाती हैं।
इस विधि जो निज चिंतन रथ पर नित्य सवारी करते हैं,
अध्रुव अनुप्रेक्षा के धारी शाश्वत पद को वरते हैं॥

भावार्थः–कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि–मज्जानुगत अर्थात् पूर्ण रूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षा है।[1] अनित्यानुप्रेक्षा इसका प्रथम भेद है। द्रव्य दृष्टि या द्रव्यार्थिक नय से सभी द्रव्य शाश्वत हैं, वे कभी नष्ट नहीं होते। क्योंकि द्रव्य से सर्वथा पृथग्भूत पर्यायों की सत्ता नहीं पायी जाती है। सत् का आविर्भाव ही उत्पाद है और उसका तिरोभाव ही विनाश है ऐसा समझना चाहिए। पर्यायें ही उत्पन्न होती हैं उन्हीं का नाश होता है द्रव्य न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। कहा भी है द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाव वाले हैं।[2] अतः द्रव्यार्थिक नय से समस्त वस्तुएँ नित्य हैं, शाश्वत हैं।

---

1. कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि–मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणुवेक्खणा णाम।–ध.9
2. दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पणमविणट्ठं। –ध.पु. 1/1 गा. 8/13

पर्यायें सदा उत्पन्न होती हैं और विनाश को प्राप्त हो जाती हैं। कहा भी है पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं।[1] सभी वस्तुएँ अनित्य हैं इस प्रकार मुनिराज अनित्यानुप्रेक्षा का चिंतन करते हैं।

---

1. उप्पज्जंति वियेति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।।8।। ध.पु. 1

79

णो होदि को वि सरणो, काण वि जीवाण तिलोय-याले य।
ववहारेण परमेट्ठि, गुरुत्तोऽप्पसहाविदरेणं॥७९॥

अन्वयार्थः- काण वि-किसी भी **जीवाण**-जीव के लिए **तिलोय-याले य**-तीनों लोकों और कालों में **कोवि**-कोई भी **सरणो**-शरण **णो**-नहीं **होदि**-होता है। **ववहारेण**-व्यवहार से **परमेट्ठि**-परमेष्ठी और **अप्पसहाविदरेणं**-इतर यानि निश्चय से आत्म स्वभाव शरण है **गुरुत्तो**-ऐसा गुरु ने कहा है।

संसारी जन तीन लोक को शरण मान सुख चाहता है,
पर वियोग निश्चय से होता फिर अनाथ कहलाता है।
पंच गुरु व्यवहार शरण निश्चय से आतम शरणा है,
गुरु वचनों पर श्रद्धा करके भव सागर से तरना है।

भावार्थः-इस संसार में किसी भी जीव का तीनों लोकों व कालों में कोई शरण नहीं है।[1] देव, इंद्र, चक्रवर्ती, औषधि, मंत्र-तंत्र, पुत्र, मित्र, कलत्रादि मृत्यु के समय कोई भी जीव की रक्षा नहीं कर सकता जैसे महाभयानक वन में व्याघ्र द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को अथवा समुद्र के मध्य में जहाज से छूटे पक्षी की कोई शरण नहीं है। व्यवहार से तो पंचपरमेष्ठी (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु) ही शरण हैं और निश्चय से आत्म भाव (स्वात्मा) ही शरण है।[1] पंचपरमेष्ठी मृत्यु से तो नहीं बचाते किंतु इनका निमित्त पा जीव जन्म-मरणादि का नाश कर सकता है अतः ये व्यवहार से शरण हैं और आत्मा कर्मों को स्वयं नष्ट कर जन्म-जरा-मृत्यु के कष्टों से बच

---

1. निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद् बहिरंगसहकारिकारणभूतं पंचपरमेष्ठयाराधनं च शरणम्। 35 -द्र.सं.टी.

सकती है अतः यह निश्चय से शरण है। कहा भी है मणि, मंत्र, औषध, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ व जितनी विद्याएँ हैं वे कोई भी शरण नहीं हैं।[1] भव रूपी विपत्ति में मात्र पंच परमेष्ठी, जिन धर्म, आत्म तत्त्व शरण हैं ऐसा बार-बार चिंतन करना अशरणानुप्रेक्षा है। ऐसा गुरु ने कहा है।

---

1. मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयल विज्जाओ।
जीवाणं णहि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि।।8।। -बा.अ.

80

पंचविहे संसारे, चउगदीसु भमंति ते कम्मजुदा।
लहंति णंत-दुक्खाणि, रयणत्तयेण सिज्झंति खलु॥८०॥

अन्वयार्थ:– **ते**–वे **कम्मजुदा**–कर्मों से युक्त जीव **पंचविहे संसारे**–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव रूप पाँच प्रकार के संसार में **चउगदीसु**–चारों गतियों में **भमंति**–भ्रमण करते हैं **णंत-दुक्खाणि**–अनंत दु:खों को **लहंति**–प्राप्त करते हैं मात्र **रयणत्तयेण**–रत्नत्रय से **खलु**–ही, जीव **सिज्झंति**–मोक्ष प्राप्त करते हैं।

पंच प्रकारी भव अरु बंधता चार गति रूपी खूटी,
आतम निधि छूटी उससे पर दु:ख श्रृंखला ना टूटी।
शिव सुख को वरने का केवल रत्नत्रय ही कारण है,
रत्नत्रयधारी का वंदन करता पाप विदारण है॥

भावार्थ:–संसरण करने को संसार कहते हैं।[1] चारों गतियों में भ्रमण करना संसार है। यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के भेद से पाँच प्रकार का है। इस पाँच प्रकार के संसार में, चारों गतियों में जीव कर्मों के आधीन हो परिभ्रमण कर रहा है।

द्रव्य परिवर्तन–द्रव्य परिवर्तन के 2 भेद हैं–नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन, कर्म द्रव्य परिवर्तन। किसी एक जीव ने तीन शरीर और 6 पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया। अनंतर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गंधादि के द्वारा जिस तीव्र, मंद और मध्यम भाव से ग्रहण किये थे उस रूप से अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गए। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनंतबार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र व बीच में गृहीत परमाणुओं को अनंत बार ग्रहण करके छोड़ा, तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम

ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से नोकर्म भाव को प्राप्त होते हैं, तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन है।

एक जीव ने आठ प्रकार के क्रमरूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवली काल के बाद द्वितीयादिक समयों में झर गए। पश्चात् नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन में जैसा कहा उसी क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव के जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। इस प्रकार यह जीव अनंत बार पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में घूमता रहता है।

क्षेत्र परिवर्तन-यह स्वक्षेत्र व परक्षेत्र के भेद से 2 प्रकार का है। कोई सूक्ष्मनिगोदिया जीव सूक्ष्म निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और पूर्ण करके मर गया। पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते बढ़ाते महामत्स्य की अवगाहना पर्यंत अनेक अवगाहना धारण करता है, इसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के 8 मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के 8 मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पुनः वही जीव उस ही रूप से उस ही स्थान में दूसरी-तीसरी बार उत्पन्न हुआ इस प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न होता है। पुनः एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते संपूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, यही परक्षेत्र परावर्तन है।

काल परिवर्तन-कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ पुनः आयु पूर्ण कर द्वितीय उत्सर्पिणी के द्वितीय समय में उत्पन्न हुआ, मृत्यु को प्राप्त हुआ पुनः तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस क्रम से उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के 20 कोड़ा कोड़ी सागर के जितने समय हैं उनमें जन्म लिया, व उसी क्रम से मृत्यु को प्राप्त हुआ। यही काल परिवर्तन है।

भव परिवर्तन–नरक गति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। उस आयु के साथ नरक में उत्पन्न हुआ। दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहाँ उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरकगति की उत्कृष्टायु तेतीस सागर पूर्ण करता है। इसी प्रकार तिर्यंच व मनुष्य गति की अन्तर्मुहूर्त से 3 पल्य तक आयु समाप्त करता है। देवगति की 10,000 वर्ष से 31 सागर तक आयु पूर्ण करता है। इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भव परिवर्तन कहते हैं।

भाव परिवर्तन–योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान, कषाय अध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान, इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध के कारण आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द रूप योग के तरतमरूप स्थानों को योग स्थान कहते हैं। अनुभाग बंध, स्थिति बंध के कारण कषाय के तरतम स्थानों को क्रमशः अनुभागबन्धाध्यवसाय व स्थितिबंधाध्यवसाय स्थान कहते हैं। बंधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थिति स्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान व कषाय बंधाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण है। मिथ्यादृष्टि, पंचेंद्रिय, सैनी, पर्याप्तक कोई जीव ज्ञानावरण कर्म की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्यस्थिति को बांधता है। उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभाग स्थान को प्राप्त जीव के द्वारा दूसरा योग स्थान होता है। जब सब योगस्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। उसके योगस्थान पूर्ववत् ही जानने चाहिये।

इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग स्थान के साथ सब योगस्थानों को समाप्त करता है। अनुभाग स्थानों के समाप्त होने पर, उसी स्थिति को

प्राप्त जीव के दूसरा कषाय स्थान होता है। इस कषाय स्थान के अनुभाग स्थान व योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार सब कषाय स्थानों की समाप्ति तक अनुभाग स्थान और योगस्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिए। कषाय स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बांधता है। उसके भी कषाय स्थान, अनुभाग स्थान व योग स्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यंत प्रत्येक स्थिति के कषाय स्थान, अनुभाग स्थान और योगस्थानों का क्रम जानना चाहिए। इसी प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिये। इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों को भोगने को भाव परिवर्तन कहते हैं।

इस प्रकार कर्माधीन जीव पाँच प्रकार के संसार में, चारों गतियों में भ्रमण करते हैं और अनंत दुखों को प्राप्त करते हैं। यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नहीं देता है इसलिए जन्म, बुढ़ापा, मरण, योग, और भय से भरे हुए पाँच प्रकार के संसार में अनादिकाल से भटक रहा है।[1] रत्नत्रय को धारण कर जीव संसार का छेद कर निश्चय से मोक्ष को प्राप्त करता है।

---

1. पंचविहे संसारे, जाइजरामरणरोगभयपउरे।
   जिणमग्गमपेछंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं।।24 -बा.अ.

81

जम्मदि मरदि हु एक्को, सकम्म-जीवो लहदि सुह-दुक्खं च।
एक्को हिंडदि भवम्मि, कम्म-खयित्ता हु लहदि सिवं॥८१॥

अन्वयार्थः– सकम्म जीवो-कर्मों से सहित जीव **एक्को**-अकेला **हु**-ही **जम्मदि**-जन्म लेता है और **मरदि**-मरता है **सुह-दुक्खं च**-सुख और दु:ख को **लहदि**-प्राप्त करता है **एक्को**-अकेला **हु**-ही **भवम्मि**-संसार में **हिंडदि**-घूमता है और **कम्म-खयित्ता**-कर्मक्षय करके **सिवं**-मोक्ष को **लहदि**-प्राप्त करता है।

भव वन में संसारी प्राणी जन्म अकेला लेता है,
एकल ही मरता एकल ही सुख दुख भोगा करता है।
एकल ही घूमा करता संग कोई ना पोता नाती है,
कर्म खपाकर शिव रमणी का बनता एकल साथी है॥

भावार्थ:-जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। कर्म बद्ध जीव उसके फलस्वरूप अकेला ही सुख व दुख को भोगता है। वह अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है और अकेला ही कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करता है। यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बांधता है, अकेला ही अनादि संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है अर्थात् इसका कोई साथी नहीं है।[1] इस प्रकार चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

---

1. एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥14॥ -बा.आ.

82

सगदेहो वि अण्णो हु, कम्मेण लद्ध वत्थू वि अण्णं हु।
सुद्धप्पं विणा को वि, जीवस्स सगो ण दिस्सदित्ति॥८२॥

अन्वयार्थः– सगदेहो-स्वदेह **वि**-भी **अण्णो**-अन्य **हु**-ही है, **कम्मेण लद्ध वत्थू**-कर्म से प्राप्त वस्तु **वि**-भी **अण्णं**-अन्य **हु**-ही है **सुद्धप्पं विणा**-शुद्धात्मा बिना **जीवस्स**-जीव का **को वि**-कोई भी **सगो**-अपना **ण**-नहीं **दिस्सदित्ति**-दिखता है।

कर्मोदय से प्राप्त वस्तु निज देह भी पर है सपना है,
शुद्धात्मा के बिना जीव का कोई कभी नहीं अपना है।
यथाजात निर्ग्रंथ दिगम्बर भेद ज्ञान दरशाते हैं,
उनके चरणों में यम लेकर भगवन् खुद बन जाते हैं॥

भावार्थः-कर्मोदय से प्राप्त वस्तु अपनी नहीं है, यहाँ तक कि यह शरीर भी अपना नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अन्य है। माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश सम्बन्ध रखता है, परंतु यथार्थ में जीव का इनसे कोई संबंध नहीं है, ये सब जीव से जुदे हैं।[1] शुद्धात्मा के अतिरिक्त जीव का अपना कोई नहीं है। यही चिंतन बार-बार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

---

1. मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति॥21॥ -बा.अ.

83

देहोऽयं मलजुत्तो, सव्वदा सवंति णवमलदाराणि।
तम्मि ण रमंति देहे, ते णिग्गंथा लोयपुज्जा॥८३॥

अन्वयार्थः– देहोऽयं-यह देह **मल जुत्तो**-मल से युक्त है इससे **सव्वदा**-सर्वदा **णवमलदाराणि**-नव मल के द्वार **सवंति**-स्रवित होते हैं, जो **तम्मि देहे**-उस देह में **ण रमंति**-रमते नहीं हैं **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **लोयपुज्जा**-लोक में पूज्य होते हैं।

नव मलद्वार बहे इस तन में देह सदा घिनकारी है,
जो इस तन से राग करे नहि पाता सुख अविकारी है।
यथाजात निर्ग्रंथ साधु इस तन में तनिक न रमते हैं,
शुचि गुण धारक श्रेष्ठ दिगम्बर के चरणों में रमते हैं॥

भावार्थः-यह देह मल से युक्त है। शौच गृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है। यह नव मल द्वार अति दुर्गन्धित रस को बहाने वाले झरने हैं। जो द्रव्य अत्यंत पवित्र व सुगंधित हैं वे भी शरीर में लगने पर अतिघिनावने व अति दुर्गंधित हो जाते हैं। यह देह दुर्गंधमय है, डरावनी है, मलमूत्र से भरी हुई है, जड़ है, मूर्तिक है और क्षीण होने वाली है, विनाशीक स्वभाव वाली है। इस तरह निरंतर इसका विचार करना चाहिए।[1] इस प्रकार की अशुचि काया में निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज रमते नहीं हैं, शरीर का पोषण नहीं करते वे निर्ग्रंथ लोक में पूज्य हैं।

---

1. दुग्गंधं वीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणा मुत्तं।
सडणापडणसहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं॥44॥ -बा.अ.

84

मिच्छत्तऽविरदि-पमाद-कसायजोगेहिं आसवो होदि।
णिग्गंथा हु चिंतंति, ण आसवो अप्पसुह-हेऊ॥८४॥

अन्वयार्थः– **मिच्छत्तऽविरदि-पमाद-कसायजोगेहिं**-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के द्वारा **आसवो**-आस्रव **होदि**-होता है **आसवो**-आस्रव **अप्पसुह-हेऊ**-आत्म सुख का हेतु **ण**-नहीं है, ऐसा **हु**-ही **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ साधु **चिंतंति**-(आस्रवानुप्रेक्षा का) चिंतन करते हैं।

पन मिथ्यात्व कषाय योग अरु अविरति विधि को बल देती,
कर्म वर्गणा कर्म रूप हो आतम के संग हो लेती।
आस्रव दुख का कारण चेतन इससे सदा बचे रहना,
आतम सुख यदि पाना चाहो मानो गुरुवर का कहना॥

भावार्थः-पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं।[1] मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग ये आस्रव के प्रत्यय हैं। विपरीत अभिनिवेश के उपयोग विकार रूप जो शुद्ध जीवादि पदार्थों के विषय में विपरीत श्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।[2] यह एकांत, विनय, विपरीत, संशय व अज्ञान के भेद से 5 प्रकार का है। यह कर्मों के आस्रव में कारण है। निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है।[3] छहकाय के जीवों की दया न करने से और छह इंद्रियों के विषय भेद से अविरति 12 प्रकार की होती है। कषाय रहित अवस्था प्रमाद है।

---

1. पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः। रा.वा. 1/4/9
2. विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति। – स.सा./ता.वृ. 88/144
3. निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः। –स.सा./ता.वृ. 88

कषाय के भार से भारी होने को आलस्य होना कहा है, उसे प्रमाद कहते हैं।[1] चार विकथा (स्त्री कथा, चोर कथा, राजकथा, भोजन कथा), चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा और एक प्रणय ये पंद्रह प्रमाद होते हैं।

जो क्रोधादिक जीव के सुख-दु:ख रूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप खेत को कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा या मेंढ रूप हैं इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं।[2] क्रोध, मान, माय, लोभ ये चार कषाय हैं। वचनवर्गणा, मनो वर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेशों के हलन-चलन को योग कहते हैं।[3] चार मनोयोग (सत्य, असत्य, उभय, अनुभय) चार वचनयोग (सत्य, असत्य, उभय, अनुभय) 7 काय योग (औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारकमिश्र, कार्माण) इस प्रकार 15 योग के भेद हैं।

इनके कारण कर्मों का आस्रव होता है। यह आस्रव आत्म सुख का हेतु नहीं है। इसका चिंतन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। निर्ग्रंथ मुनिराज इसका चिंतन निरंतर करते हैं।

---

1. कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यत:। -स.सा./आ. 307
2. सुहदुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स।
   संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति।।109 पं.सं./प्रा.
3. योगोवाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्द:। -स.सि. 2/26

85

वयसमिदि-गुत्ति-धम्मो, चरियणुवेक्खा संवर-कारणं च।
आसवरोह-संवरो, एसो चिंतंति णिग्गंथा॥८५॥

अन्वयार्थः– **वयसमिदि-गुत्ति-धम्मो चरियणुवेक्खा**-व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, चारित्र, और अनुप्रेक्षा **संवरं कारणं**-संवर का कारण है **च**-और **आसवरोह-संवरो**-आस्रव का निरोध करना संवर है **एसो**-यह **णिग्गंथा**-(संवरानुप्रेक्षा के चिंतक) निर्ग्रंथ मुनि **चिंतंति**-चिंतन करते हैं।

समिति गुप्ति चारित्र धर्म व्रत कारण संवर के जानो,
आस्रव का रुकना ही संवर कहलाता है पहचानो।
संवर अनुप्रेक्षा का चिंतन नित योगीजन करते हैं,
चिंतन रथ पर हो सवार वो भव वारिधि को तरते हैं॥

भावार्थः-आस्रव के रोकने-निरोध को संवर कहते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, चरित्र, अनुप्रेक्षा ये संवर के कारण हैं। व्रत में अणुव्रत व महाव्रत दोनों ग्राह्य हैं। विकथा, कषायादि प्रमादों के छोड़ने को समिति कहा है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण व व्युत्सर्ग ये 5 समिति हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति व कायगुप्ति ये 3 गुप्ति हैं। दया से विशुद्ध धर्म है। जीवाजीवादि तत्त्वों का चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। रागादि दोषों से रहित शुभध्यान में लीन आत्म स्वरूप वस्तु का उत्कृष्ट चारित्र है।[1] व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, चारित्र व अनुप्रेक्षा ये संवर के कारण हैं। इनका पुनः-पुनः चिंतन संवरानुप्रेक्षा है। निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि इस भावना का निरंतर चिंतन करते हैं।

---

1. अप्प-सरूवं वत्थुं चत्तं रायादिएहि दोसेहिं।
सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं।।99।। -का.अ.

86

कम्माणमेगदेसं, संखयं सत्थे णिज्जरा भणिदा।
णिग्गंथा ताइ रदा, णिज्जराभाव-जुत्ता होंति॥८६॥

अन्वयार्थः– **सत्थे**-शास्त्र में **कम्माणमेगदेसं**-कर्मों का एकदेश **संखयं**-संक्षय करना **णिज्जरा**-निर्जरा **भणिदा**-कही गयी है **णिज्जरा भाव-जुत्ता**-निर्जरा भावना से युक्त **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ मुनि **ताइ**-उस भावना में **रदा**-रत या संलीन **होंति**-होते हैं।

एक देश विधि क्षय होने का नाम निर्जरा कहलाता,
द्विविध भेद युत कर्म निर्जरा जोडे शिवपुर से नाता।
कर्मों का क्षय करने का जो नित्य उपक्रम करते हैं,
यथाजात निर्ग्रंथ मुनि भव-भव का क्रंदन हरते हैं॥

भावार्थः-कर्मों का एक देश क्षय निर्जरा कही जाती है। सामान्य निर्जरा तो प्रत्येक जीव के प्रतिसमय होती ही रहती है क्योंकि जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, वे आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। यह सविपाक निर्जरा कही जाती है। जो बारह प्रकार के तप द्वारा की जाती है, तप आदि के द्वारा बल-पूर्वक कर्मों को उदय में लाकर खिरा दिया जाता है, वह अविपाक निर्जरा है। स्वकाल पक्व और तप द्वारा की गयी निर्जरा, दो प्रकार की कही गयी है। इनमें प्रथम चारों गतियों के जीवों के होती है और दूसरी केवल व्रतधारी श्रावक या मुनियों के होती है।[1] निर्जरा भावना से युक्त निर्ग्रंथ मुनि सदा उस निर्जरा में रत रहते हैं।

---

1. सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया॥67 –बा.अ.

87

मिच्छावसेण जीवा, लोगे भमंति अणाइयालादो।
णिग्गंथा हु चिंतंति, सिज्झंति ते उज्जमेणं च॥८७॥

अन्वयार्थः– **मिच्छावसेण**–मिथ्यात्व के वश हो **जीवा**–जीव **अणाइयालादो**–अनादिकाल से **लोगे**–लोक में **भमंति**–भ्रमण कर रहे हैं, ऐसा **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ साधु **हु**–निश्चय से **चिंतंति**–चिंतन करते हैं **च**–और **उज्जमेणं**–उद्यम से **ते**–वे **सिज्झंति**–सिद्ध पद प्राप्त करते हैं।

मिथ्यावश संसारी जग में भ्रमण करे निज को भूला,
काल नादि से मोहित होकर झूला पापों का झूला।
लोक भावना का चिंतन कर ज्ञानी कर्म खपाते हैं,
निज सम्यक् पुरुषार्थ प्रबल कर सिद्ध परमपद पाते हैं॥

भावार्थः–मिथ्यात्व के वश हो जीव अनादिकाल से इस 343 घन राजू वाले लोक में परिभ्रमण कर रहा है। यह जीव अशुभ विचारों से नरक तथा तिर्यंच गति पाता है, शुभ विचारों से देवों तथा मनुष्यों के सुख भोगता है और शुद्ध विचारों से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार लोक भावना का चिंतन करना चाहिए।[1] निर्ग्रंथ दिगंबर साधु इसका सदैव चिंतन करते हैं और वे उद्यम से अर्थात् सकल संयम, रत्नत्रय को धार, तप व ध्यानादि से कर्मों का नाश कर सिद्ध पद प्राप्त करते हैं।

---

1. असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो॥42॥ –बा.अ.

:88:

दुल्लहो तसपज्जयो, माणुससुकुलसुसंगदी-बुद्धी य।
तासु बोही दुल्लहा, ताण धारगा हु णिग्गंथा॥८८॥

अन्वयार्थः– **तस पज्जयो**–त्रस पर्याय **माणुस सुकुल सुसंगदी-बुद्धी य**–मनुष्य गति, उच्च कुल, सुसंगति और सुबुद्धि **दुल्लहो**–दुर्लभ है **तासु**–उन सभी में **बोही**–रत्नत्रय को पाना **दुल्लहा**–महा दुर्लभ है **ताण**–उस बोधि–दुर्लभ अनुप्रेक्षा के **धारगा**–धारण करने वाले **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ मुनि **हु**–ही हैं।

बहुत कठिन है थावर से त्रस होकर मानवगति पाना,
कुल ऊँचा पाकर सत्संगति अरु सुबुद्धि का मिल जाना।
सबसे दुर्लभ दुर्लभता का बोध स्वयं को हो जाना,
फिर महादुर्लभ रत्नत्रय धर धरे दिगम्बर का बाना॥

भावार्थः–यह लोक स्थावर जीवों से भरा हुआ है। जिस प्रकार महासागर में गिरी मणि को पाना अत्यंत कठिन है उसी प्रकार त्रस पर्याय द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेंद्रिय पर्याय प्राप्त करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। जिस प्रकार चौराहे पर रत्नराशि प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है। उसमें भी उत्तम कुल, सुसंगति, सुबुद्धि प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। कदाचित् प्राप्त हो जाए तो विषय सुख से विरक्त हो बोधि–सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके धारक निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनिराज हैं। जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय चिन्ता करने को अत्यन्त दुर्लभ बोधि भावना कहते हैं क्योंकि बोधि पाना अत्यंत कठिन है।[1]

---

1. असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो॥42॥ –बा.अ.

89

वत्थु-सहावो धम्मो, वा अणुमहव्वया बे-भेयेणं।
ववहारो णिच्छयो वि, कम्मक्खय-कारणं मण्णे॥८९॥

अन्वयार्थः– **वत्थु-सहावो**–वस्तु का स्वभाव **धम्मो**–धर्म है **अणुमहव्वया बे-भेयेणं**–अणुव्रत और महाव्रत के भेद से धर्म दो प्रकार का है **वा**–अथवा **ववहारो णिच्छयो वि**–व्यवहार और निश्चय रूप धर्म भी है, वह **कम्मक्खय-कारणं**–कर्मक्षय का कारण **मण्णे**–माना है।

वस्तु स्वभाव धर्म कहलाता अरु निश्चय व्यवहार महा,
श्रावक श्रमण भेद से अणुव्रत महाव्रत को भी धर्म कहा।
यथाजात निर्ग्रंथ दिगम्बर शाश्वत धर्म रूप माना,
नित चित् में लखि बिम्ब आपका मैंने निज को पहचाना॥

भावार्थः–जिस वस्तु का जो स्वभाव है वह उसका धर्म है। इसके अणुव्रत और महाव्रत दो भेद हैं। महाव्रत की चर्चा तो पूर्व में की जा चुकी है। पिष्टपेषण दोष के परिहार के लिए उसका कथन यहाँ नहीं करते। हिंसादिक से एक देश निवृत्त होना अणुव्रत है। यह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार संतोष व परिग्रह परिमाण के भेद से 5 प्रकार का है। मन, वचन, काय के संकल्प से और कृत, कारित, अनुमोदना से त्रस जीवों को जो नहीं हनता, उस क्रिया को गणधरादि निपुण पुरुष स्थूल हिंसा से विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं।[1] स्थूल झूठ न आप बोलें, न दूसरों से बुलवायें तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो, ऐसा वचन यथार्थ भी न आप बोलें और न दूसरों

---

1. संकल्पात् कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणः॥53॥

से बुलवावें ऐसे उसको सत्पुरुष सत्याणुव्रत कहते हैं।[1] जो रखे हुए तथा गिरे हुए अथवा भूले हुए अथवा धरोहर रखे हुए परद्रव्य को नहीं हरता, है, न दूसरों को देता है सो स्थूलचोरी से विरक्त होना अचौर्याणुव्रत है।[2] जो पाप के भय से न तो पर स्त्री के प्रति गमन करे और न दूसरों को गमन करावे, वह परस्त्री त्याग तथा स्वदार संतोष नाम का अणुव्रत है।[3] धन-धान्यादि दस प्रकार के परिग्रह को परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाण व्रत है।[4]

यह धर्म व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। पंचपरमेष्ठी आदि की भक्ति परिणाम रूप व्यवहार धर्म होता है।[5] चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है सो साम्य है और साम्य मोह क्षोभ रहित आत्मा के परिणाम है।[6] यह निश्चय धर्म का लक्षण जानना चाहिये अथवा रागादि समस्त दोषों से रहित तथा शुद्धात्मा की अनुभूति सहित निश्चय धर्म होता है।[7] यह धर्म कर्म क्षय का कारण माना गया है।

---

1. स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
   यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् 1/55 -र.श्रा.
2. निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
   न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्य्यादुपारमणं 1/57 -र.श्रा.
3. न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
   सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि।। 59 -र.श्रा.
4. धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
   परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामाऽपि।। 61-र.श्रा.
5. पंचपरमेष्ठ्यादि भक्तिपरिणामरूपो व्यवहार धर्मस्तावदुच्यते। 8 -प्र.सा./ता.वृ.
6. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
   मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।7 -प्र.सा.
7. रागादिदोष रहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो।8 पं.का./ता.वृ.

90

लोयम्मि विज्जमाणा, बहुविहत्था णेगसहावजुत्ता।
चिंतंति सम्मरूवं, पणमामि तच्चणाणि-साहूं॥९०॥

अन्वयार्थः–**लोयम्मि**–इस लोक में **बहुविहत्था**–अनेक प्रकार के पदार्थ **णेग सहावजुत्ता**–नाना स्वभाव से युक्त **विज्जमाणा**–विद्यमान हैं। उनके विषय में **सम्मरूवं**–समान रूप से **चिंतंति**–जो चिंतन करते हैं, उन **तच्चणाणि-साहूं**–तत्त्वज्ञानी साधु को **पणमामि**–प्रणाम करता हूँ।

इस जग में नाना स्वभाव युत नाना अर्थ भरे रहते,
तत्त्वज्ञानी उन सब विषयों में समभावों को नित रखते।
तत्त्वज्ञान की आरी से ये निज-पर अंतर छाट रहे,
ऐसे उन निर्ग्रंथ गुरु के चरणों में मम माथ रहे॥

भावार्थः–संसार में नाना स्वभावों से युक्त अनेक पदार्थ विद्यमान हैं मुनि उनके विषय में समान रूप से चिंतन करते हैं। यही मुनियों की सामायिक या समता है। स्व व पर में राग-द्वेष रहित होना, सब स्त्रियों को माता के समान देखना, शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि में सम भाव रखना सामायिक है।[1] संसार के समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में जो समान भाव रखते हैं, समता भाव के धारी उन तत्त्वज्ञानी मुनिराजों को नमस्कार करता हूँ।

---

1. जं च समो अप्पाणं परं य मादूय सव्वमहिलासु।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो सो य सामाइयं।।521 –मू.आ.

91

विज्जमाणेसु लोगे, सव्वजीवेसु परममित्तिजुत्ता।
णिग्गंथा सिवपंथी, मोहणासगा पुज्जणीया॥९१॥

अन्वयार्थः– **लोगे**–लोक में **विज्जमाणेसु**–विद्यमान **सव्व जीवेसु**–सभी जीवों में **परममित्ति जुत्ता**–परम मैत्री से युक्त **सिवपंथी**–मोक्ष मार्ग के राही **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ मुनि **मोहणासगा पुज्जणीया**–मोह का नाश करने वाले तथा पूज्यनीय हैं।

सब जीवों को मित्र बना जो परम मैत्री धन धारी हैं,
शिव पथ के जो पथिक बने हैं निश्छल हैं अविकारी हैं।
मोह शत्रु की प्रबल सैन्य पर ध्यान खड्ग ले वार किया,
यथाजात गुरु के चरणों में अपना जीवन वार दिया॥

भावार्थः–दिगंबर मुनि लोक में विद्यमान सभी जीवों में परम मैत्री भाव से युक्त हैं। दूसरों को दुःख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है।[1] अथवा किसी जीव को कोई कष्ट न हो, सूक्ष्म और बादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुख–दुःखादि अवस्थाओं में जैसे–जैसे ठहरे हों तथा नाना भेद रूप योनियों में प्राप्त होने वाले जीवों में समानता से विराधने वाली न हो ऐसी महत्ता को प्राप्त हुई समीचीन बुद्धि मैत्री भावना कही जाती है। इसमें प्राणियों की भावना रहती है कि सभी जीव कष्ट–आपदाओं से मुक्त हों तथा बैर, पापादि छोड़कर सुख को प्राप्त हों। ऐसे परम मैत्री भाव से युक्त, शिवमार्ग पर चलने वाले, मोह को नाश करने वाले निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनिराज सदैव पूज्यनीय हैं।

---

1. परेषां दुःखानुपत्त्यभिलाषा मैत्री। –स.सि. 7/11

92

गुणजुत्ता जे जीवा, गुण-वड्ढणं जत्थ कत्थ कुव्वंति।
धरंति तेसु पमोदं, ते सुगुणपुंजा णिग्गंथा॥९२॥

अन्वयार्थः- **गुणजुत्ता**-गुणयुक्त **जे**-जो **जीवा**-जीव **गुण-वड्ढणं**-गुणों का सम्वर्धन **जत्थ-कत्थ**-जहाँ कहीं भी **कुव्वंति**-कर लेते हैं **तेसु**-उन गुणीजनों में **ते**-वे साधु **पमोदं**-प्रमोद भाव को **धरंति**-धारण करते हैं, ऐसे **सुगुणपुंजा णिग्गंथा**-सुगुणों के पुंज निर्ग्रन्थ मुनि हैं।

गुण अभिलाषी गुण चर्चा को ध्यान लगा सुन लेते हैं,
दोष रूप इंगाल खान से गुण हीरे चुन लेते हैं।
जो उन गुणीजनों में नित ही मोद भाव को रखते हैं,
सुगुण पुंज निर्ग्रंथ दिगम्बर मुक्ति रमा को वरते हैं॥

भावार्थः-यतियों के गुणों का विचार करके उनके गुणों में हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है।[1] जो जीव जहाँ कहीं से गुणग्राही दृष्टि से गुणों को ग्रहण करते हैं, स्वयं गुणों का वर्द्धन करते हैं उनमें निर्ग्रंथ मुनि हर्ष भाव धारण करते हैं। गुणी लोगों में स्वयं गुणों के पुंज निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज प्रमोद भाव रखते हैं।

---

1. मुदितानामयतिगुणचिन्ता। -भ.आ./वि./1696

93

अण्णाण-किलेसजुदा, मोहाविट्ठ-कसाय-पावजुत्ता।
तेसु धरंति सस्सदं, कारुण्णमप्पहियकंखाइ॥९३॥

अन्वयार्थः– जो जीव **अण्णाण-किलेसजुदा**–अज्ञान और क्लेश से युक्त **मोहाविट्ठ-कसाय- पावजुत्ता**–मोह से युक्त, कषाय और पाप से युक्त हैं **तेसु**–उन क्लेश युक्त जीवों में (निर्ग्रंथ मुनि) **अप्पहिय कंखाइ**–आत्महिताकांक्षा से **सस्सदं**–शाश्वत **कारुण्णं**–करुणा **धरंति**–धरते हैं।

ज्ञान हीन नर क्लेश भाव धर निज वैभव को भूल रहे,
मोह भूत से पीड़ित होकर पाप पङ्क में कूल रहे।
क्लेश युक्त जीवों के प्रति जो करुणा का जल बरसाते,
स्व पर हितैषी गुरु छवि लख दृग हर्ष भाव से भर जाते॥

भावार्थः–शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशि प्राणियों को सता रही है, यह देखकर, ''ओह, इन दीन प्राणियों ने मिथ्या दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योग से जो उत्पन्न किया था, वह कर्म उदय में आकर इन जीवों को दुःख दे रहा है। ये कर्मवश होकर दुख भोग रहे हैं'' इस प्रकार उनके दुःख से दुःखित होना करुणा है।[1] निर्ग्रंथ साधु ऐसे अज्ञान व क्लेश से युक्त, मोह में आविष्ट, कषाय और पाप से युक्त जीवों में आत्म हित की आकांक्षा के लिए करुणा भाव रखते हैं।

---

1. भ.आ./वि./1696

94

धम्मादो विवरीया, पावणिमित्ता कुधम्म-पवत्तया।
तेसु मज्झत्थभावं, धरंति ते कम्मक्खयेदुं॥९४॥

अन्वयार्थः– जो **धम्मादो विवरीया**–धर्म से विपरीत हैं **पावणिमित्ता**–पाप के निमित्त हैं **कुधम्म-पवत्तया**–कुधर्म के प्रवर्तक हैं **तेसु**–उनमें **ते**–वे निर्ग्रंथ दिगंबर मुनि **कम्मक्खयेदुं**–कर्मों का क्षय करने के लिए **मज्झत्थभावं**–माध्यस्थ भाव **धरंति**–धारण करते हैं।

सम्यक् धर्म विरोधी चर्चा असद् आचरण करते हैं,
खोटा धर्म प्रवर्तन करते नहीं पाप से डरते हैं।
उन जीवों के प्रति सदा माध्यस्थ भाव जो रखते हैं,
ऐसे श्रेष्ठ दिगम्बर यतिजन कर्मों का क्षय करते हैं॥

भावार्थः–रागद्वेषपूर्वक पक्षपात का न करना माध्यस्थ्य है।[1] जो लोग धर्म से विपरीत हैं, नास्तिक हैं, पापी आदि हैं उनमें राग या द्वेष न करके, उनके प्रति उदासीन रहना, माध्यस्थ भाव है। निर्ग्रंथ दिगंबर साधु धर्म से विपरीत पाप के निमित्त, कुधर्म के प्रवर्तकों में कर्मों के क्षय के लिए माध्यस्थ भाव रखते हैं।

---

1. रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं। –स.सि. 7/11

95

कालो महाबलिट्ठो, दुक्खाइं देंति सव्व-जीवाणं।
णिग्गंथा तं जयंति, होंति कंता मोक्खकांताइ॥९५॥

अन्वयार्थः– **कालो**–काल या समय **महाबलिट्ठो**–महाबलशाली है **सव्व-जीवाणं**–सभी जीवों को **दुक्खाइं**–दु:ख **देंति**–देता है **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ मुनिराज **तं**–उस काल को **जयंति**–जीतते हैं और **मोक्खकांताइ**–मोक्ष रूपी स्त्री के **कंता**–पति **होंति**–होते हैं।

काल महाबलधारी जग में काल महादुखदायी है,
इसी काल ने महापुरुषों तक से नहि प्रीत निभायी है।
धन्य-धन्य निर्ग्रंथ दिगम्बर महाकाल से जीते हैं,
कालजयी होकर सिद्धों संग शाश्वत सुख रस पीते हैं॥

भावार्थः–काल या समय बहुत शक्तिशाली है। काल का यहाँ आशय है–मृत्यु। ऐसा कोई संसारी प्राणी नहीं जिसे काल ने अपना ग्रास न बनाया हो। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु तो निश्चित है। सभी जीव इस पीड़ादायक मृत्यु से भयभीत होते हैं। यह सभी को कष्टकारी होती है किंतु मुनिराज उस मृत्यु पर विजय पा, मृत्यु की मृत्यु कर मोक्ष रूपी स्त्री के पति होते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

96

इदं मज्झिदं तुम्हं, भण्णंति अप्पबुद्धि-धारगा खलु।
उयारभाव-जुत्ता तु, णियोव्व हु जीवा मण्णंते॥९६॥

अन्वयार्थः– **इदं**-यह **मज्झिदं**-मेरा है यह **तुम्हं**-तेरा है ऐसा **अप्पबुद्धिधारगा**-अल्पबुद्धि के धारक मनुष्य **खलु**-ही **भण्णंति**-कहते हैं **उयारभाव-जुत्ता**-लेकिन उदार भाव से युक्त निर्ग्रंथ मुनि **तु**-तो **जीवा**-सभी जीवों को **णियोव्व**-अपने समान **हु**-ही **मण्णंते**-मानते हैं।

संसारी जन अल्प बुद्धि धर तेरा-मेरा करता है,
समय गवाकर इस विकल्प में पाप बीज बो लेता है।
सब जीवों को निज सम लखते दृष्टि जिनकी कल्याणी,
यथाजात निर्ग्रंथ मुनीश्वर होए सभी को वरदानी॥

भावार्थः–''यह मेरा है'' ''यह तेरा है'' इस प्रकार का कथन या व्यवहार तो अल्प बुद्धि के धारक करते हैं। कहा भी है यह मेरा, यह तेरा यह छोटी बुद्धि के धारक करते हैं परन्तु उदारचरित्र महापुरुष के लिए तो सारी पृथ्वी ही परिवार है।[1] उदार भाव से युक्त वे निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज संसार के प्रत्येक प्राणी को अपने समान ही मानते हैं।

---

1. अयं निजः परो वेति गणनां लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

97

मण-वयण-काय गोवा, सगुत्तक्खदमण-महव्वयजुत्ता।
समिदि-संजमजुत्ता य, सिवपहणायगा णिग्गंथा॥९७॥

अन्वयार्थः- मण-वयण-काय गोवा-मन, वचन और काय का गोपन करने वाले **सगुत्तक्खदमण-महव्वयजुत्ता**-गुप्ति सहित, इन्द्रिय दमन और महाव्रत से युक्त **समिदि-संजमजुत्ता य**-समिति और संयम से युक्त **सिवपहणायगा**-मोक्ष पथ के नायक **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज हैं।

तीन योग का गोपन करते पालें पंच समिति न्यारी,
पंचेन्द्रिय का दमन करें वें पंच महाव्रत के धारी।
संयमधारी आत्मविहारी मोक्षमार्ग के नायक हैं,
यथाजात गुरु के वंदन से बनते आत्म विधायक हैं॥

भावार्थः-मन, वचन व काय को सावद्य क्रियाओं से रोकना गुप्ति है।[1] मन, वचन, काय के भेद से गुप्ति तीन प्रकार की है। कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहा है।[2] पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा, भक्त कथा इत्यादि रूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादि की निवृत्ति वाले वचन, वचनगुप्ति है।[3] बंधन, छेदन, मारण, आकुंचन तथा प्रसारणा (फैलाना) इत्यादि कायक्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहा है।[4]

---

1. मणवचकायपुवत्तो भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
   खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो॥331॥ -मू.आ.
2. कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं।
   परिहारी मणगुत्तो ववहारणयेण परिकहियं॥66॥ -नि.सा.
3. थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
   परिहारो वचगुत्तो अलोथादिणियत्तिवयणं वा॥67॥ -नि.सा.
4. बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया।
   कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति॥68॥ -नि.सा.

इस प्रकार तीन गुप्ति, पाँच महाव्रत, पाँच समितियों का पालन करने वाले, इंद्रियों का दमन करने वाले, संयम से युक्त ये निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज मोक्ष मार्ग के नायक हैं।

98

भवसुहभाव-विहीणा, विसयविरत्ता खलु मोक्खासत्ता।
सव्वकम्म-णिरीहा य, ते णिग्गंथा सिवणायगा॥९८॥

अन्वयार्थः– **भवसुह भाव-विहीणा**-भव सुख के भाव से विहीन **विसयविरत्ता**-पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त **मोक्खासत्ता**-मोक्ष में आसक्त **य**-और **सव्वकम्मणिरीहा**-सभी कर्मों से निरीह वृत्ति वाले **ते**-वे **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ मुनिराज **खलु**-निश्चय ही **सिवणायगा**-मोक्ष के नायक हैं।

जग का सुख पाने की किंचित् चाह नहीं जिनके मन में,
पंचेन्द्रिय से हो विरक्त नित लीन रहें जो शिव मग में।
कर्म चोर से भीत करें निज गुण रत्नों की रखवाली,
वे निर्ग्रंथ दिगम्बर करते तीन लोक में खुशहाली॥

भावार्थः-निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज संसार सुखों से विहीन हैं, संसार सुखों से उदासीन रहते हैं उनकी किंचित् भी आकांक्षा नहीं करते। पाँच इंद्रियों के विषयों से विरक्त रहते हैं। मोक्ष में सदा आसक्त रहते हैं। प्रति समय मोक्ष प्राप्ति का उपाय या श्रम करते हैं। वे सभी सांसारिक कार्यों से एवं कारण में कार्य का उपचार करने से कर्मफलों से भी निरीह रहते हैं सदैव आत्मा में रमण करते हैं। ऐसे निर्ग्रंथ साधु मोक्ष के नायक हैं स्वयं मोक्ष पथ पर चलते हैं भव्य प्राणियों को मोक्षमार्ग पर आरूढ़ करते हैं।

99

जह भवणेसुं थंबो, तह जिणसासणथंबा णिग्गंथा।
थंबं विणा ण भवणं, णिग्गंथं विणा ण सिवपहं॥९९॥

अन्वयार्थः– **जह**–जिस प्रकार **भवणेसुं**–भवनों में **थंबो**–स्तम्भ होता है **तह**–उसी प्रकार **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज **जिणसासण-थंबा**–जिनशासन के स्तम्भ हैं। जिस प्रकार **थंबं**–स्तम्भ के **विणा**–बिना **भवणं**–भवन **ण**–नहीं होता उसी प्रकार **णिग्गंथं**–निर्ग्रंथ मुनिराज के बिना **सिवपहं**–मोक्ष का मार्ग **ण**–नहीं होता है।

ज्यों भवनों की स्थिरता में स्तंभ बने रहते आधार,
जिनशासन की नींव बने त्यों श्री मुनिवर मम प्राणाधार।
उन्नत जिनशासन है इनसे करें अतः इनकी जयकार,
हे प्राणेश सदा उरवासी नमन करो मेरा स्वीकार॥

भावार्थः–जिस प्रकार भवनों का आधार स्तंभ होता है। कितना ही सुंदर, अद्भुत भवन हो किंतु बिना नींव-स्तंभ के ठहर नहीं सकता। उसी प्रकार जिनशासन, जिनधर्म के स्तंभ भी निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज ही हैं। निर्ग्रंथ गुरुओं के बिना जिनशासन ठहर नहीं सकता। श्री आदिनाथ भगवान से आज तक जिनशासन रूपी नदी अव्याबाध व अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। इस बीच कभी जिनशासन की उन्नति भी हुई, कभी ह्रास भी हुआ। आचार्य भगवन् श्री यतिवृषभ स्वामी ने तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि श्री पुष्पदंत भगवान से लेकर श्री धर्मनाथ भगवान तक सात बार यह परंपरा व्युच्छिन्न हुई, मुनियों की परंपरा या दीक्षा का ह्रास होने से। अतः श्रमणों से जिनशासन उन्नत है। श्रमण-निर्ग्रंथ साधु ही जिनशासन के स्तंभ हैं उनके बिना शिव पथ भी नहीं होता क्योंकि मोक्ष या मोक्षमार्ग का उपदेश निर्ग्रंथ

गुरुओं के माध्यम से ही प्राप्त होता है। उनके अभाव में शिवपथ कैसा ? अर्थात् नहीं हो सकता।

100

माया-मोह-कोहाइ, पावक्खविसयेहि विवज्जगा ते।
ठिदिपण्णा जिदणिद्दा, पसंतधी-संतचित्त-धरा॥१००॥

अन्वयार्थः– **ते**-वे निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज **माया-मोह-कोहाइ पावक्खविसयेहि**-माया, मोह, क्रोधादि पाप से और इन्द्रियों के विषयों से **विवज्जगा**-विवर्जित **ठिदिपण्णा**-स्थिति प्रज्ञ **जिदणिद्दा**-निद्रा को जीतने वाले **संतचित्त**-शांत चित्त और **पसंत धी धरा**-प्रशांत बुद्धि के धारक होते हैं।

माया ममता क्रोध मोह अरु पापों से मुख मोड़ा है,
इन्द्रिय विषय त्यागकर जिनने निज से नाता जोड़ा है।
शांतचित्त निद्राजयी भगवन् प्रशान्त बुद्धि के धारक हैं,
स्थितिप्रज्ञ मम हृदयेश्वर हैं भ्रम तम ताप निवारक हैं॥

भावार्थः-अपने हृदय के विचार को छिपाने की चेष्टा ही माया है।[1] जीव के द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ़भाव मोह है अर्थात् धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति जीव के जो पूर्व वर्णित द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, उनमें होने वाला तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण वाला मूढ़भाव वास्तव में मोह है।[2] क्रोधादि पाप से यहाँ कषायें व सभी पाप ग्राह्य हैं। इन सभी पापों व इन्द्रिय विषयों से निर्ग्रंथ साधु विवर्जित होते हैं। प्रकृष्ट ज्ञान की स्थिति पर खड़ा हुआ स्थितिप्रज्ञ है। वे निर्ग्रंथ मुनि निद्रा को जीतने वाले तथा प्रशांत बुद्धि व शांत चित्त के धारी हैं।

---

1. स्वहृदयप्रच्छादार्थमनुष्ठानं माया। -ध. 12/4
2. दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति-द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्यैव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढोभावः स खलु मोहः। -प्र.सा.

101

सक्केहि वंदणीया, सव्वजीवेहिं पुज्जपरमेट्ठी।
णिग्गंथा पिदरोव्व य, जाणवयणं सुट्ठुअमियोव्व॥१०१॥

अन्वयार्थः– **सक्केहि**–इन्द्रों द्वारा **वंदणीया**–वंदन करने योग्य **य**–और **सव्वजीवेहिं**–सर्व जीवों के द्वारा **पुज्ज परमेट्ठी**–पूज्य परमेष्ठी **जाण**–जिनके **वयणं**–वचन **अमियोव्व**–अमृत के समान **सुट्ठु**–श्रेष्ठ या अच्छे लगने वाले हैं ऐसे **णिग्गंथा**–निर्ग्रंथ साधु **पिदरोव्व**–माता–पिता के समान हैं।

सब जीवों से पूजित गुरुवर शक्र सदा वंदन करते,
माता सम वात्सल्य लुटाते पितु सम संरक्षण देते।
जिनकी अमृतवाणी निशदिन सबका चित्त लुभाती है,
यथाजात निर्ग्रंथ गुरुवर की नित याद सताती है॥

भावार्थः–जो इंद्र, चंद्र, धरणेन्द्र के द्वारा वंदित ऐसे परम पद में तिष्ठता है वह परमेष्ठी होता है।[1] यहाँ निर्ग्रंथ स्तुति में आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनों का ही ग्रहण किया गया है। निर्ग्रंथ गुरु इंद्रों के द्वारा वंदित हैं, सभी जीवों के द्वारा पूज्यनीय हैं। वे निर्ग्रंथ गुरु जिनके वचन अमृत के समान श्रेष्ठ हैं। कहा जाता है अमृत पान करने वाला अजर–अमर होता है इस अमृत का तो ज्ञात नहीं किंतु गुरु वचन रूपी अमृत का पान करने वाला शाश्वत अजर अमर अवस्था अर्थात् सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। वे निर्ग्रंथ गुरु माता–पिता के समान हितकारी हैं एवं प्राणी मात्र को वात्सल्य व संरक्षण देने वाले हैं।

---

1. परमे इंद्रचंद्रधरणेन्द्रवन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। 149/296 –भा.पा.टी.

102

आगमणिट्ठो साहू, तच्चणाणी लोयस्स हिययारी।
गुणपुंजो धणहीणो, अप्पदिट्ठा सिवसुहभोत्ता॥१०२॥

अन्वयार्थः– **साहू**-निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु **आगमणिट्ठो**-आगम निष्ठ **तच्चणाणी**-तत्त्वज्ञानी **लोयस्स**-लोक के **हिययारी**-हितकारी **गुणपुंजो**-सर्वगुणों के पुंज **धणहीणो**-धन से रहित **अप्पदिट्ठा**-आत्मदृष्टा **सिवसुहभोत्ता**-शिव सुख या शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।

सर्व गुणों के पुंज दिगम्बर तीन लोक के हितकारी,
निज को पर से पृथक किया है लेकर तत्त्वज्ञान आरी।
पुद्गल धन से रहित आत्म धन सहित मोक्ष सुख के भरतार,
आत्मदृष्टा निर्ग्रंथ गुरु की करें सदा ही जय-जयकार॥

भावार्थः-निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराजों की स्तुति करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि वे आगमनिष्ठ हैं। आप्त के वचन आगम कहलाते हैं। वे ऐसे आगम में निष्ठावान् होते हैं। तत्त्वज्ञानी अर्थात् जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उसे जानने वाले होते हैं। वे सम्पूर्ण लोक के हितकारी होते हैं-सभी का हित करने वाले होते हैं। अक्ष-दमन, कषाय-शमन, उत्तम क्षमादि गुणों से युक्त व धन-दौलत से रहित होते हैं। वे आत्मदृष्टा-स्वयं को, निजात्म स्वभाव को देखने वाले होते हैं तथा निर्वाण या मोक्ष सुख के भोगने वाले होते हैं।

103

उत्तमसव्वदव्वाणि, सुह-हिद-मंगलकारगाइं तहा।
दुक्खऽसुहऽघहारगाणि, तह णिग्गंथा सासणे खलु॥१०३॥

अन्वयार्थ:- **उत्तम सव्वदव्वाणि**-सभी उत्तम द्रव्य **सुह-हिद-मंगलकारगाइं तहा**-शुभकारक, हितकारक और मंगलकारक **दुक्खऽसुहऽघहारगाणि**-दु:ख, अशुभ और पाप को हरने वाले होते हैं **तह**-उसी प्रकार **खलु**-ही **सासणे**-जिनशासन में **णिग्गंथा**-निर्ग्रंथ यथाजात दिगम्बर साधु कहे गए हैं।

उत्तम द्रव्य जगत के सब ही सबका हित मंगल करते,
शुभ सूचक होते हैं निश्चित दु:ख पाप सबके हरते।
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु की महिमा ऐसी देखी है,
अनुभव में भी आई मेरे आगम में भी लेखी है॥

भावार्थ:-सभी उत्तम द्रव्य जैसे सिद्धार्थ (पीली सरसों), पूर्णकलश, वंदनमाला, श्वेत वर्ण, घोड़ा, बालकन्या, चमरादि लौकिक मंगल कहलाते हैं। ये प्राणियों को सुखकारक, हितकारक व मंगलकारी होते हैं तथा दुख, अशुभ व पापों का हरण करने वाले होते हैं। कहा भी जाता है जो सुख को लाता है और पापों को गलाता है, वह मंगल है। जिस प्रकार ये उत्तम द्रव्य प्राणियों को सुखकारक हैं उसी प्रकार जिनशासन में निर्ग्रंथ दिगंबर गुरु प्राणियों के लिए सुखकारक, हितकारक, मंगलकारक तथा दुख-अशुभ व पापों का हरण करने वाले हैं। इनके दर्शन मात्र से पापों का संहार व पुण्य का आस्रव होता है।

104

कमलं विणा तडागो, चंदक्केहि विणा सोहदि णहो ण।
तह णिग्गंथेण विणा, धम्मसहा ण सोहदि लोए॥१०४॥

अन्वयार्थः– जिस प्रकार **लोए**–संसार में **कमलं**–कमल पुष्प के **विणा**–बिना **तडागो**–सरोवर व **चंदक्केहि**–चन्द्रमा और सूर्य के **विणा**–बिना **णहो**–आकाश **ण सोहदि**–शोभा को प्राप्त नहीं होता है **तह**–उसी प्रकार **णिग्गंथेण**–निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु के **विणा**–बिना **धम्मसहा**–धर्मसभा **ण सोहदि**–सुशोभित नहीं होती है।

कमल पुष्प के बिना सरोवर शोभा तनिक न पाता है,
अर्क इन्दु बिन ज्यों आकाश भी सूना सा रह जाता है।
वैसे ही निर्ग्रंथ मुनि बिन सभा न शोभा पाती है,
गुरुवर की सन्निधि पाकर ही धर्मसभा कहलाती है॥

भावार्थः–सरोवर की शोभा कमल के पुष्प से होती है और आकाश की शोभा सूर्य व चंद्रमा से होती है। कमल व चंद्र–सूर्य के बिना क्रमशः सरोवर व आकाश की शोभा नहीं होती। उसी प्रकार निर्ग्रंथ दिगंबर साधुओं के बिना धर्म सभा की शोभा नहीं होती।

105

अग्गिं विणा ण धूमो, मेहेणं विणा ण विट्टी कया वि।
तह णिग्गंथेण विणा, मोक्खसुहं वि णो होदि कया॥१०५॥

अन्वयार्थ:-जिस प्रकार **कया वि**-कभी भी **अग्गिं**-अग्नि के **विणा**-बिना **धूमो**-धुँआ **ण**-नहीं होता **मेहेणं विणा**-मेघ के बिना **विट्टी**-वृष्टि **ण**-नहीं होती **तह**-उसी तरह **णिग्गंथेण**-निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि के **विणा**-बिना **कया**-कभी **मोक्खसुहं**-मोक्ष का सुख **वि**-भी **णो**-नहीं **होदि**-होता है।

पढ़ा यही सिद्धान्त अग्नि बिन धूम न रहने पाता है,
मेघ बिना नहि जल बरसे सब सूखा सा रह जाता है।
ऐसे ही निर्ग्रंथ मुनि बिन मोक्ष नहीं मिल सकता है,
यथाजात मुनि का बाना ही सिद्धस्वपद दे सकता है॥

भावार्थ:-अग्नि व धूम का अविनाभावी संबंध है। अग्नि के बिना धूँआ नहीं होता और मेघ के बिना वर्षा नहीं होती जब आकाश में मेघ होंगे तभी वृष्टि होगी। उसी प्रकार निर्ग्रंथ दिगंबर साधुओं के बिना कभी मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव देखा जाता है। अत: जो मोक्ष सुख के हेतु हैं ऐसे निर्ग्रंथ साधुओं के अभाव में मोक्ष सुख कैसे संभव हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

106

जहग्गीए उण्हदा, सीयल-गइसीलदा जले पवणे।
तह जीवंत-सुधम्मो, विज्जदे णिग्गंथेसु सया॥१०६॥

अन्वयार्थः– **जहग्गीए**–जिस प्रकार अग्नि में **उण्हदा**–उष्णता **सीयल-गइसीलदा जले पवणे**–जल में शीतलता और पवन में गतिशीलता है **तह**–उसी प्रकार **णिग्गंथेसु**–निर्ग्रंथों में **सया**–सदा **जीवंत सुधम्मो**–जीवंत सम्यक् धर्म **विज्जदे**–विद्यमान रहता है।

पावक में जो रहे उष्णता है 'स्वभाव' जल का शीतल,
अरु वायु में रहे निःसगता बहती इधर-उधर अविरल।
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु जीवंत, धर्म की मूरत हैं,
चलते फिरते तीरथ हैं ये तीर्थंकर की सूरत हैं॥

भावार्थः–अग्नि का स्वभाव ऊष्णता है, जल का स्वभाव शीतलता व पवन का स्वभाव गतिशीलता है। वस्तु से उसका स्वभाव अलग नहीं किया जा सकता है। यदि अलग किया जा सकता है तो वह स्वभाव नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में ऊष्णता, जल में शीतलता, पवन में गतिशीलता विद्यमान है उसी प्रकार निर्ग्रंथ साधुओं में जीवंत धर्म विद्यमान है। तभी तो उन्हें चलते-फिरते तीर्थ या चैत्य कहा जाता है। कहा भी है जो ज्ञानयुक्त आत्मा को जानता हो, दूसरे भव्य जीवों को उसका बोध कराता हो, पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो ऐसे मुनि को चैतन्यगृह जानो।[1]

---

1. बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं॥8॥ –बो.पा.

107

जह रुक्खादो फलाणि, पुप्फ-मेहुप्पजदि गंधो जलं च।
खीरादो सप्पी खलु, सुधम्मो तह णिग्गंथादो॥१०७॥

अन्वयार्थः– **जह**–जिस प्रकार **रुक्खादो**–वृक्ष से **फलाणि**–फल **खीरादो**–दूध से **सप्पी**–घी **पुप्फ-मेहुप्पजदि गंधो जलं च**–पुष्प से गंध और मेघ से जल उत्पन्न होता है **तह**–उसी प्रकार **खलु**–निश्चय ही **णिग्गंथादो**–निर्ग्रंथ मुनि से **सुधम्मो**–शुभ धर्म उत्पन्न होता है।

वृक्ष फलों को पुष्प गंध को चहुदिश में बिखराता है,
घृत पय से ही प्राप्त हुआ अरु मेघ नीर बरसाता है।
निश्चय से निर्ग्रंथ गुरु यूँ धर्म जनक कहलाते हैं,
पालन करते स्वयं धर्म को आगे तक ले जाते हैं॥

भावार्थः–जैसे वृक्षों से फल की प्राप्ति होती है, पुष्पों से गंध और मेघ से जल उत्पन्न होता है तथा दूध से घी उत्पन्न होता है उसी प्रकार निर्ग्रंथ गुरुओं से समीचीन धर्म उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सफेद दिखने वाले दूध के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से घी उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार निर्ग्रंथ साधुओं के अतिरिक्त अन्य से सम्यक् धर्म की उत्पत्ति संभव नहीं है।

108

उहय-गंथ-हीणा चिय, बेविहो हु मोक्ख-मग्ग सहिदा जे।
रायादिदोसरहिदा, णिग्गंथाणं णमो-णमो य॥१०८॥

अन्वयार्थः–**जे**-जो **उहयगंथ-हीणा चिय**-दोनों ही प्रकार के परिग्रह से हीन हैं **बेविहो मोक्खमग्ग सहिदा हु**-वे दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग से सहित हैं **य**-और **रायादिदोसरहिदा**- रागादि दोषों से रहित हैं उन **णिग्गंथाणं**-निर्ग्रंथ साधुओं को **णमो-णमो**-नमस्कार है, नमस्कार है।

अंतरंग बहिरंग द्विविध संग त्याग बने सुखदायी हैं,
निश्चय अरु व्यवहार मोक्ष मग के जो सच्चे राही हैं।
राग द्वेष से रहित सदा जिनकी पगरज भी चंदन है,
यथाजात निर्ग्रंथ गुरु को वंदन है अभिनंदन है॥

भावार्थः-जो उभय ग्रंथ यानि दोनों प्रकार के परिग्रह आभ्यंतर व बाह्य अथवा चेतन या अचेतन परिग्रह से हीन हैं। दो प्रकार का मोक्ष मार्ग अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग व निश्चय मोक्षमार्ग। धर्मास्तिकाय आदि का अर्थात् षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व व नव पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व संबंधी आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप में चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है।[1] जो आत्मा इन तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र द्वारा समाहित होता हुआ अर्थात् निजात्मा में एकाग्र होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है, इन विकल्पों से अतीत हो जाता है, वह आत्मा ही निश्चय नय से मोक्षमार्ग कहा गया है।[2] इस प्रकार जो

---

1. धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगद्।
   चेट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति॥160 -पं.का.
2. णिच्छयणयेण भणिदो तिहि समाहिदो हु जो अप्पा।
   ण कुणदि किं चि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति॥161॥ -पं.का.

निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिराज दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित, दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग से सहित व रागादि दोषों से रहित हैं उन्हें सदा नमस्कार हो, नमस्कार हो।

109

वंदित्तु अरिह-सिद्धं आइरिय-उवज्झाय-णिग्गंथा वि।
संति-पाय-जयकित्तिं, सया देसभूसणं णमामि॥१०९॥

अन्वयार्थ:-मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) **सया**-सदा **अरिह-सिद्धं**-अरिहंत सिद्ध को **आइरिय-उवज्झाय-णिग्गंथा वि**-आचार्य, उपाध्याय और निर्ग्रंथ साधु को भी **वंदित्तु**-वंदन करके **संति-पाय-जयकित्तिं**-आचार्य शांतिसागर जी को, आचार्य पायसागर जी को, आचार्य जयकीर्ति जी को **देसभूषणं**-आचार्य देश भूषण जी को **णमामि**-नमस्कार करता हूँ।

सकल निकल प्रभुवर को वंदन सूरी पाठक अरु मुनिराज,
श्रमण संस्कृति के उन्नायक सूरी शांति सागर महाराज।
पाय सागर मुनि तपस्वी जयकीर्ति गुरू पर है नाज,
मुनि देशभूषण को वंदन पाऊँ मोक्षमहल का राज॥

भावार्थ:-घाति कर्मों से रहित, केवलज्ञानादि उत्कृष्ट गुणों से युक्त और चौंतीस अतिशयों से युक्त अरिहंत होते हैं।[1] आठ कर्मों के बंध को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, आठ गुणों से समन्वित, उत्कृष्ट, लोकाग्र में स्थित और नित्य-ऐसे सिद्ध होते हैं।[2] पंचाचार से पूर्ण, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद को निर्दलन करने वाले, धीर और गुणों से गंभीर-ऐसे आचार्य होते हैं।[3]

---

1. घणघादिकम्मरहिदा, केवलणाणादिपरमगुणसहिदा।
   चोत्तिसअदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा होंति।।4/16-नि.सा.
2. णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिदा परमा।
   लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति।। 4/17 -नि.सा.
3. पंचाचारसमग्गा, पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
   धीरा गुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होंति।। 4/18 -नि.सा.

रत्नत्रय से संयुक्त, जिनेन्द्र कथित पदार्थों का उपदेश करने वाले, उपसर्गादि सहन करने में शूर और निष्कांक्ष भावना सहित ऐसे उपाध्याय होते हैं।[1] यहाँ निर्ग्रंथ से पंचम परमेष्ठी साधुओं को ग्रहण करना है। समस्त व्यापार से विप्रमुक्त, चार प्रकार की आराधनाओं में सदा अनुरक्त, निर्ग्रंथ, निर्मोह ऐसे साधु होते हैं।[2]

ग्रंथकार यहाँ ऐसे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु को नमस्कार करके पुनः चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी, महातपस्वी आचार्य श्री पायसागर जी, अध्यात्मयोगी आचार्य श्री जयकीर्ति जी तथा भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण मुनिराज को नमस्कार करते हैं।

---

1. रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकहिदपयत्थदेसयासूरा।
   णिक्कंख भावसहिदा, उवज्झाया एरिसा होंति।। 4/19 नि. सा.
2. वावारविप्पमुक्का, चउव्विहाराहणासयारत्ता।
   णिग्गंथा णिम्मोहा, साहू एदेरिसा होंति।। 4/20 –नि.सा.

110

सिद्धंतचक्कवट्टिं, सेदपिच्छधारगं रट्ठसंतं।
विज्जाणंदं गुरुं च, तिभत्तीइ णमस्सामि सया॥११०॥

अन्वयार्थः–**च**-और (अग्रिम गाथा से संयोजन हेतु) **सिद्धंतचक्कवट्टिं**-सिद्धांत चक्रवर्ती **रट्ठसंतं**-राष्ट्रसंत **सेदपिच्छधारगं**-श्वेतपिच्छि धारक **विज्जाणंदंगुरुं**-आचार्य श्री विद्यानंद गुरु को **सया**-सदा **तिभत्तीइ**-सिद्ध, श्रुत और आचार्य भक्ति द्वारा **णमस्सामि**-नमस्कार करता हूँ।

परमागम का अध्ययन कर जो चक्रवर्ती सिद्धांत हुए,
श्वेत पिच्छी के धारक मुनिवर विद्यानन्द आचार्य हुए।
सिद्ध भक्ति श्रुत सूरीत्रय भक्ति से शीश नवाता हूँ,
राष्ट्रसंत गुरु के चरणों में स्वर्गों सा सुख पाता हूँ॥

भावार्थः-पुनः ग्रंथकार अपनी गौरवशाली परंपरा के धुरंधर आचार्यों को नमस्कार करने के पश्चात् अपने गुरु सिद्धांत चक्रवर्ती, राष्ट्र संत, श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति एवं आचार्य भक्ति इन तीन भक्तियों सहित नित्य ही नमस्कार करते हैं।

:111:

पुण्ण-पव्वम्मि पुण्णो, गंथो वीरसासण-जयंतीए।
अप्पा तच्चाणि तहा, अक्खचेइयभेया होही॥१११॥

अन्वयार्थ:-वर्ष **अप्पा**-आत्मा-3 **तच्चाणि**-तत्त्व-7 **तहा**-तथा**अक्खचेइयभेया**-इन्द्रिय-5, चैत्य-2, भेद अर्थात् 2573 वर्ष में **वीरसासण-जयंतीए**-वीर शासन जयंति के **पुण्ण-पव्वम्मि**-पुण्य पर्व पर **गंथो पुण्णो**-यह ग्रंथ पूर्ण **होही**-हुआ।

आत्म तीन होती हैं सचमुच कथन करें तत्त्वों का सात,
अक्ष पाँच होती हैं सर्वदा द्वय चैत्य वंदन सुखकार।
अंक गति से पढ़े जो उल्टा शत पचीस अरु तेहत्तर,
वीर शासन सुखद जयंती पूर्ण ग्रंथ यह परमोत्तम॥

भावार्थ:-आत्मा के तीन भेद हैं-अंतरात्मा, बहिरात्मा व परमात्मा। अत: आत्मा से 3 अंक ग्राह्य है। तत्त्व सात हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। अत: तत्त्व से 7 अंक ग्राह्य है। अक्ष यानि इंद्रियों के पाँच भेद हैं-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण। इंद्रिय से यहाँ 5 अंक ग्राह्य है। चैत्य दो प्रकार के हैं-कृत्रिम व अकृत्रिम। अत: चैत्य से 2 अंक ग्राह्य है। इनको मिलाने पर 3752 किंतु ''अंकानां वामतो गति:'' से 2573 अर्थात् 2573 वर्ष में, वीर शासन जयंति के पुण्य पर्व पर परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा रचित यह ''णिग्गंथ-थुदी'' नामक ग्रंथ पूर्ण हुआ।

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
(अ)		
अग्गिं विणा ण धूमो	105	145
अचेल लोचाइ सेस	45	65
अण्णाण-किलेसजुदा	93	131
अण्णाण-पमादेहिं	42	62
अत्ति चरिया-वित्तिं	57	84
अप्पभावं विणा खलु	76	107
असणाइ चउविहा वा	34	52
(आ)		
आगम णिट्ठो साहू	102	142
(इ)		
इंदिय-पाणि संजमा	73	104
इंदियाइं हु जयंति	32	48
इंदियिच्छाणं सया	74	105
इट्ठाणिट्ठत्थेसुं	39	58
इदं मज्झिदं तुम्हं	96	134
इह लोए विज्जमाणा	90	128
(उ)		
उत्तम सव्व दव्वाणि	103	143

उत्तरगुण चउतीसा	53	74
उवयारी मेहोव्व य	13	16
उसहोव्व सरल सहजो	7	9
उहय-गंथ-हीणा चिय	108	148
(ओ)		
ओसबिंदोव्व विमला	14	17
(क)		
कण्णिंदियस्स विसया	37	55
कमलं विणा तड़ागो	104	144
कम्माणमेगदेसं	86	123
करेज्ज वइयावच्चं	63	93
कालो महाबलिट्ठो	95	133
किंचि लद्धीइ जीवा	69	100
कुडिलभावं चागिच्चु	70	101
कुव्वंति सज्झायं खु	64	94
कोहुप्पत्ति-हेऊण	68	99
(ख)		
खीर गुड तेल सप्पी	58	86
(ग)		
गच्छंति सकज्जेणं	27	35
गयोव्व साहीमाणी	9	11
गुणजुत्ता जे जीवा	92	130

(च)

चंदोव्व खलु सीयलो	6	8
चउवीस-तित्थयराण	41	61
चत्ता बेपरिग्गहं	65	96
चित्तेकग्गो किच्चा	66	97

(छ)

छुहवेयणी कम्मस्स	55	80

(ज)

जम्मदि मरदि हु एक्को	81	117
जहग्गीए उण्हदा	106	146
जह भवणेसुं थंबो	99	138
जह रुक्खादो फलाणि	107	147
जे जोगठाणवग्गह	60	88
जे भूमिं खलु दिट्ठा	31	47
जो मण-वयण-कायेहि	21	26
जो मिगोव्व वणयारी	3	5

(ठ)

ठाणिच्चा खलु गहंति	52	73

(ण)

णिच्चं जे चागंति य	75	106
णिम्माणादि णो सप्पो	10	13
णिवसदि ठाणेयंते	59	87

णो परबंभं कंखदि	24	30
णो होदि कोवि सरणो	79	111
(त)		
तित्थयरमेगस्स जे	40	60
तेजस्सी अक्कोव्व हु	5	7
(द)		
दंसण-णाण-चरिय	62	91
दहविह-खमाइधम्मो	67	98
दुल्लहो तसपज्जयो	88	125
देहोऽयं मलजुत्तो	83	119
(ध)		
धम्मादो विवरीया	94	132
धारंति बे विहा खलु	54	76
धेणूव्व णेहजुत्ता	16	19
(प)		
पंच महव्वय-जुत्ता	20	25
पंचविहे संसारे	80	113
पणविह-वण्णा भणिदा	36	54
पणविह समिदी भणिदा	26	34
पमादेणाण्णाणेण	61	90
पयडीव णिग्गंथा वि	19	24
परदव्वाउ विरत्तो	44	64

परवत्थुं गहणस्स वि	23	29
पिच्छि-पुत्थ-कमंडलं	30	46
पुण्ण-पव्वम्मि पुण्णो	111	153
(ब)		
बंभं तिलोय पुज्जं	77	108
बहुगुण सत्ती जुत्ता	17	20
बेतीस - अंतरायं	29	37
बे-ति-चउमासम्मि वा	47	67
बेविह संगच्चागी	25	32
(भ)		
भव भोयदेहादो य	50	71
भवसुहभाव-विहीणा	98	137
(म)		
मण-वयण-कायगोवा	97	135
मत्तंडोव्व रिसी सो	18	22
माया-मोह-कोहाइ	100	140
मिच्छत्तऽविरदि-पमाद	84	120
मिच्छावसेण जीवा	87	124
मुंचिउ मोसंभावं	72	103
मोसं चागदि णिच्चं	22	27
(र)		
रायवड्ढण-हेऊ य	49	70

(ल)		
लिप्पो जल्लमलेणं	48	69
लोहो हु महापावं	71	102
(व)		
वंदित्तु अरिह-सिद्धं	109	150
वत्थु-सहावो धम्मो	89	126
वयसमिदि-गुत्ति-धम्मो	85	122
वलकल-अजिण-जुडेहि	46	66
वसुविह फास विसया	33	51
विक्किदो णहो ण होदि	11	14
विज्जमाणेसुं लोगे	91	129
(स)		
संजम-वड्ढण-हेऊ	56	82
सक्केहि वंदणीया	101	141
सगदेहो वि अण्णो हु	82	118
समदाइ-सडकज्जाणि	38	56
सयायालेग भुत्तिं	51	72
सव्व-जीवेसुं किवा	15	18
सव्व णिग्गंथ साहू	1	1
सस्सद-सव्व दव्वं	78	109
सहज-कंतिजुत्ता जा	12	15
सायरोव्व गंभीरो	8	10

सावज्ज-पाववड्ढग	43	63
सिंहोव्व परक्कमी जे	2	3
सिद्धंत चक्कवट्टिं	110	152
सुह-दुह-बेविह गंधा	35	53
सेलोव्व महाधीरो	4	6
(ह)		
हियमिय-पिय वयणाणि	28	36